नददुलारे वाजपेयी

आधुनिक काव्य
रचना और विचार

भूमिका

स्वतंत्रता के पूर्व के साहित्यिक इतिहास को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साहित्यकारों ने युग की प्रगति का साथ दिया है, संघर्ष किया है और इस दिशा में वे किसी अन्य वर्ग के लोगो से पीछे नही रहे हैं। यद्यपि स्वतंत्रता के लिये आन्दोलन करना राजनीतिज्ञो का काम था, परन्तु अनेकानेक साहित्यिक अपनी लेखनी के बल से आन्दोलन को तीव्रतर करते रहे हैं। बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध पर दृष्टि डालने पर स्पष्ट देखा जा सकता है कि इस अर्ध-शताब्दी के प्रायः सभी प्रमुख साहित्यिक राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न रहे है और सभी ने अपनी-अपनी दृष्टि से उसके विकास में सहायता पहुँचाई है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि राष्ट्रीय-चेतना का स्वरूप क्या है और उसके विकास की दिशाएँ क्या है ? अक्सर राजनीति मे राष्ट्रीय चेतना का अर्थ देश की वहिर्मुखी उन्नति के लिए प्रयत्नशील होना माना जाता है। राजनीतिक दलो के लोग इसी को लक्ष्य वनाकर काम करते आए है, पर यह राष्ट्रीय चेतना का एक आंशिक स्वरूप है। इसके अतिरिक्त उसके अन्य अनेक स्वरूप हैं। स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना यदि राजनीति का लक्ष्य है। तो सामाजिक जीवन मे, वैयक्तिक जीवन मे, न्याय और स्वतत्रता की माग करना कलाकारों और साहित्यिको की विशेपता रही है। प्राचीन इतिहास के पृष्ठो को खोलकर नये जन-समाज के सामने रख देना, उसके उज्जवल आदर्शों की ओर सवका ध्यान आकृष्ट करना साहित्यिको का कार्य रहा है, और उन्होंने इस कार्य को वड़े मनोयोग के साथ सम्पन्न किया है।

क्या राजनीति और साहित्य का लक्ष्य एक ही है और क्या दोनों एक ही दायित्व लेकर चलते है ? इस प्रश्न का उत्तर हम यह दे सकते है कि राजनीति का लक्ष्य जन-समाज के वाहरी जीवन के हितो को देखना, उनकी रक्षा करना और उनका संवर्धन करना है। जवकि साहित्यिक का लक्ष्य समाज को ऐसी प्रेरणा देना है कि सामाजिक स्वयं अपने हितों और अधिकारों को समझ सके और अपने दायित्वों के प्रति सजग हो सकें। हम कह सकते हैं कि राजनीति का क्षेत्र संघटित जन-आन्दोलन का क्षेत्र है, जवकि साहित्य और कलाओं का क्षेत्र समाज और व्यक्ति की भावनाओ के परिष्कार और उन्नयन का है। उन्हे उनके मानवीय गुणो का स्मरण कराने और उनकी सर्वांगीण उन्नति में योग देने का है। साहित्य एक अंतरंग प्रक्रिया है, जो जन-मन का संस्कार करती है, वौद्धिक विकास मे योग देती है और समस्त मनुष्यो की समानता का उद्घोष करती है। साहित्यकार यह मानकर चलता है कि मनुष्यमात्र मे समान हृदय, समान वुद्धि और समान विवेक की संभावना है और इस समानता का अधिकार मनुष्यमात्र को है। यदि यह मूल धारणा साहित्यिक मे न हो, तो वह अपनी रचना को प्रस्तुत करने का उत्साह नही पा सकता। सार्वजनिकता साहित्यिक प्रक्रिया के मूल मे निवास करती है। साहित्य की आत्मा 'रस' अंततः क्या है ? वह मानवमात्र की वह आनंदात्मक प्रतिक्रिया है जो श्रेष्ठ साहित्य को पढ़कर उसे उपलब्ध होती है। अन्य व्यावहारिक क्षेत्रो मे स्वार्थ का लक्ष्य रह सकता है, ईर्ष्या और द्वेष के भाव स्थान पा सकते है, पर सृष्टि के समय साहित्यिक-स्रष्टा में ऐसी किसी सकीर्ण वस्तु के लिए स्थान नही रह सकता। अन्यथा, उसकी कृति भावात्मक नहीं होगी। वह साहित्यिक न होगा, और चाहे जो कुछ हो।

साहित्य की आध्यात्मिकता से यही आशय है कि उसका रचयिता

सम्पन्न होता है। गाँधी जी ने प्रयत्न किया था कि वे राजनीति को भी आध्यात्मिक बना ले, अर्थात् उसमे से सारी कटुता, मलिनता और स्वार्थपरता को निकालकर, उसे स्वच्छ मानवीय विकास का उपकरण बना दें। वे बहुत दूर तक अपने कार्य मे सफल भी हुए थे। परन्तु अपने अतिम दिनो मे उन्हे निराशा भी कम नही हुई थी। स्वतत्र हो जाने के पश्चात् भारतीय राजनीति मे काफी विकृतियाँ आई। गाधी जी का निःस्वार्थ सेवा का आदर्श लोगो ने भुला दिया। जब से भारतीय राजनीति 'सिक्यूलर' कहलाने लगी, तव से गांधी जी की उदात्त शिक्षा उसमे से घटती ही चली गई। सिक्यूलर का अर्थ यदि मानवीय माना जाता, तो संभव था कि गाँधी जी की कल्पना इतनी छिन्न-भिन्न न होती। साहित्य मे 'सिक्यूलर' शब्द का अर्थ मानवीय ही माना गया है और आज भी साहित्य की लौकिकता का अर्थ उसकी मानवीयता ही है।

इस प्रकार राजनीति और साहित्य के क्रियमाण लक्ष्यो मे जो कृत्रिम अंतर आ गया है, उसे दूर करने की ओर हम सबका ध्यान जाना चाहिए। राजनीति के परिष्कार से—उसमे से स्वार्थपरता को हटाकर ही—हम राजनीति और साहित्य को समीप ला सकते है। भावात्मक भूमिका पर ही ये दोनो वस्तुएँ समान लक्ष्य और दायित्व का परिचय दे सकती है। परन्तु इन दिनो राजनीति अपनी भावात्मक भूमि से दूर जा पडी है। यही कारण है कि लोगो को जान पड़ता है कि आज के साहित्यिक राजनीति से दूर हो गए हैं। जो साहित्यिक राजनीति के समीप है, वे सच्चे अर्थो मे साहित्यिक रह ही नही गए है।

इन दिनों शासन की ओर से बहुत सा प्रकाशन का कार्य होता है। सरकारी पत्र-पत्रिकाओ की संख्या काफी वढ गई है। यहाँ तक कि विदेशी सरकारो के जो दूतावास भारत मे है, वे भी अपनी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करने लगे है। प्रकाशन के इस वाहुल्य मे लिखित साहित्य पर प्रचार का रंग चढ रहा है और इस प्रकार का प्रकाशन

साहित्यिक न होकर राजनीतिक ही बनता जा रहा है। पत्र-पत्रिकाओ में मंत्रियो-उपमंत्रियों के लेखों की एक बड़ी मात्रा रहा करती है। जब कभी दैनिक पत्रो के, विशेषकर अंग्रेजी दैनिको के, विशेषांक प्रकाशित होते हैं, तब उनमें मंत्रियों-उपमंत्रियो या आकाक्षी मंत्री-उपमत्रियों के लेखों की भरमार रहती है। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यो होता है ? क्या बुद्धि और भावना का सारा दायित्व उन लोगो ने ही ले लिया है ? मंत्री हमें अपने-अपने कार्यो की जानकारी करा सकते है, देश की प्रगति के आंकड़े दे सकते है, पर जन-समाज में वास्तविक प्रेरणा देने का कार्य आंकड़ो से नही सधा करता। उसके लिए तो उस भावात्मक और प्रेरणात्मक वस्तु की आवश्यकता होती है, जिसे साहित्य कहते हैं।

स्वतंत्रता के पूर्व राजनीतिक लेखको और साहित्यिक लेखकों में कोई बड़ा अन्तर नही था। दोनो ही जन-समाज के लिए प्रेरणाप्रद सामग्री दिया करते थे। पत्र-पत्रिकाओ में जो भी लेख या निबन्ध प्रकाशित होते थे, उनमे परिगणना की कमी रहती थी। तफसीलो का बाहुल्य नही था। सभी लेखक अपनी-अपनी दृष्टि से जन-समाज को एक समष्टि आकाक्षा और एक समष्टि उद्योग का ज्ञान कराते थे। आज पत्र-पत्रिकाओ में, लेखो में, पुस्तको मे, सूचनाओ का प्राधान्य हो गया है; सख्याएँ और अक पेश किये जाते हैं, परन्तु इससे जन-समाज की जागृति नही हो सकती। समाज तो सदैव बलशाली आदर्शो और आत्म-मथन से उत्पन्न नये लक्ष्यों से ही परिचालित होता आया हैं। आज के साहित्यिक अब भी इस लक्ष्य को भूले नही है; पर, जैसा कि मैंने आरंभ मे कहा है, आज की परिस्थितियाँ स्वतंत्रतापूर्व की परिस्थितियो से बदली हुई है और साहित्यिक लेखको के समक्ष काफी कठिनाइयाँ उपस्थित है। सच तो यह है कि उनके सामने साहित्यिक लेखक का आदर्श छोड़कर राजनीतिक लेखक बन जाने का विकल्प उपस्थित हो गया है। राजनीतिक लेखक बनकर वे अपनी जीविका तो

चला लेंगे; वे पत्र-पत्रिकाओ में, सरकारी प्रकाशनों में, सूचना पुस्तिकाओ मे, लेख लिखकर प्रसिद्धि पाने की संभावना भी रख सकेंगे, परन्तु इस प्रकार की प्रसिद्धि साहित्यिक प्रसिद्धि तो किसी अर्थ मे नही कही जा सकेगी।

सामान्य रूप से यह परिस्थिति है, जिसका सामना साहित्यिकों को स्वतंत्रता के वाद करना पड रहा है। यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि स्वतंत्र भारत में क्या साहित्यिको को वही सव कुछ करना है जो वे स्वतंत्रता के पूर्व कर रहे थे ? अथवा नये साहित्य के कुछ नये लक्ष्य भी हो सकते है ? विदेशी शासन के अंत हो जाने के पश्चात् स्वभावतः देश में एक नया वातावरण उत्पन्न हो गया है, परन्तु ऐसे ही समय मे कुछ ऐसी घटनाएँ भी घटित हुई, जिन्होने साहित्यिको को काफी क्षुब्ध किया है। आरंभिक वर्षों में विस्थापितों की भयानक समस्या उपस्थित हुई थी, जिसने देश की भावना को प्रवल वेग से झकझोर दिया था। इसके पश्चात् गाँधी जी के निधन का भीषण कांड घटित हुआ, जिसने फिर से भारतीय जनता और उसके साहित्यिको को हतचेत कर दिया। इन सव विभीषिकाओं से हम उवर ही रहे थे कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो ने अपनी अंधेरी छाया भारतीय मानस पर डाली, जिससे हम अव भी मुक्त नही हुये है। इस प्रकार स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय समाज और उसके साहित्यिको को कई वड़े झटके लग चुके है, जिनके कारण नवीन राष्ट्रनिर्माण के स्थायी तत्वो पर साहित्यिको की दृष्टि स्थिर नही हो सकी है। आज का रचनात्मक साहित्य इसीलिए अपनी आत्मा को पहचान नही पा रहा है।

इसी वीच यूरोपीय क्षेत्रों से एक ओर एक विचित्र प्रचारवादी भूमिका पर मार्क्स की विचार धारा इस देश मे प्रसारित की गई, और दूसरी ओर मनोविश्लेपण सवंधी कुछ ऐसे वाद आयात हुये जिन्होने साहित्यिको को एक विलक्षण अन्तर्मुख प्रेरणा दी है और कुछ चुने हुये

अस्वस्थ पात्रो की सृष्टि मे प्रयुक्त किया है। इन दोनो आयात वस्तुओं मे भारतीय जीवन की, और विशेषतः स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् आने वाले परिवर्तन की, स्वस्थ और समग्र सूचना नहीं है। हम कह सकते हैं कि इन तथ्यों और विचारो के आगमन से साहित्य में एक बौद्धिक विशेषता तो आई है; किन्तु राष्ट्रीय जीवन की प्रशस्त भूमिका तैयार नहीं की जा सकी है। साहित्य-शैलियो के विकास मे हम पश्चिम की नवीनतम प्रगति के साथ चलना चाहते है और इसे साहित्यिक नवीनता समझते है; पर भारतीय साहित्य की नवीनता इस प्रकार के अनुकरण से उपलब्ध नही हो सकती। उसके लिए तो हमे स्वतंत्र साधना करनी पड़ेगी। रवीन्द्रनाथ ने पश्चिम से कुछ नही लिया, ऐसा कहना सत्य नहीं है। हिन्दी के छायावादी कवियों ने पाश्चात्य भावधारा का संस्पर्श नही किया, यह भी एक अर्ध सत्य ही है। परन्तु रवीन्द्रनाथ ने पश्चिम से जो कुछ लिया, उसे भारतीय जीवन की दार्शनिकता में संजोकर लिया। छायावादी कवियो ने भी राष्ट्रीय आदर्शों और दार्शनिक भूमिकाओ को केन्द्र मे रखकर ही विदेशी वस्तुओ का आनयन किया। यही कारण है कि आज रवीन्द्र और प्रसाद, प्रेमचन्द और निराला भारतीय समाज और संस्कृति के अग्रिम विकास के सबल अंग मान लिये गये हैं। मेरा अनुमान है कि यही बात स्वतत्रता के पश्चात् के साहित्यिको के संबंध मे उतनी ही मजबूती से नही कही जा सकती। इस अन्तःवर्ती समय की कठिनाइयो का कुछ विवरण हम ऊपर दे चुके हैं और हम यह भी जानते हैं कि चौदह वर्षों का समय किसी साहित्यिक विकास को आंकने के लिये पर्याप्त नहीं होता। पिछले कुछ वर्षो मे जो अतिवादी प्रवृत्तियां साहित्य को आक्रांत कर रही थीं, वे धीरे-धीरे प्रशमित भी हो रही है और यह स्पष्ट होने लगा है कि थोड़ी सी शांति और स्थिरता मिले तो नये साहित्यिक पुनः राष्ट्रीय और सांस्कृतिक विकास के राजमार्ग पर आ पहुँचेंगे।

यह शांति और स्थिरता कैसे आयेगी ? स्वराज्य मिलने के पश्चात्

देश में सहसा राजनीतिक शक्ति का इतना प्राधान्य हो गया कि उसने सामाजिक जीवन के अन्य उदीयमान पक्षो को स्वतंत्र रीति से बढने नही दिया। सामाजिक जीवन की विविध दिशाओ मे जो कुछ कार्य हो, वह राजनीति का 'स्टैंप' लगकर ही हो, और उसका श्रेय राजनीतिज्ञो को ही मिले—इस सर्वग्रासिनी वृत्ति ने राष्ट्रीय जीवन को एकागी बना दिया है। यह मानते हुए भी कि विदेशी शासन और स्वदेशी शासन मे आदर्शो का अन्तर होता है और जो स्वार्थपरता विदेशियो मे थी, वह स्वदेशियो मे नही है। परन्तु फिर भी हमारी नई राजकीय सत्ता देश के सर्वतोन्मुखी जीवन को पूरी आजादी के साथ बढने का अवसर नही देती। राजनीति के माध्यम से एक प्रतिबंध लगा हुआ है। कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि हमारे राजनीतिक नेता और दल जनता द्वारा चुने जाने के कारण राष्ट्रीय जीवन के वास्तविक प्रतिनिधि हैं। दूसरे लोग जो राजनीति में नही आये और जो चुनाव नही लड़े, वे राष्ट्रीय जीवन के प्रतिनिधि नही है। इस प्रकार की धारणा हमारे नवीन जीवन-विकास के लिये अत्यन्त घातक है। यह राजनीति को सामाजिक विकास के अन्य साधनो से प्रधानता देने का एक छद्म प्रयोग है। इसे हम राजनीतिक स्वार्थपरता भी कह सकते है। जिस दिन अपने देश मे प्रजातंत्र का यह आदर्श बन जायगा कि राजनीति के माध्यम से आगे बढ़े हुए लोग ही देश के सबसे बडे और सच्चे प्रतिनिधि हैं, वह दिन सचमुच बड़े दुर्भाग्य का होगा।

हमें यह भी देखना चाहिए कि जिन देशों मे प्रजातत्र विकसित स्थिति पर पहुँचा हुआ है, उन देशो मे क्या राजनीति को इतनी प्रधानता प्राप्त है? क्या वहाँ के सार्वजनिक कार्य राजनीतिज्ञो की छत्रछाया मे ही होते रहते हैं? समृद्ध प्रजातंत्रो मे ऐसी स्थिति नही है। वही देश जिसमें जनता राजनीतिक शासको का मुंह जोहती है और जहाँ के लोग अपने राष्ट्रीय विकास मे राजनीतिज्ञों पर पूरी तरह अवलम्बित

रहते हैं, ऐसी विलक्षण धारणाओ को जन्म देते है। नही तो राजनीति तो राष्ट्रीय जीवन का एक सामान्य अंग है। हमारे राजनीतिक नेता और विधायक केवल एक माध्यम हैं, जिनका कर्त्तव्य और कार्य जन-समाज के विकास और उन्नति के साधन जुटाना है। माध्यम को मौलिक वस्तु और साधन को साध्य मान लेने पर ही राजनीतिक एकाधिकार का सूत्रपात होता है।

मैं इस तथ्य पर इतने विस्तार के साथ इसलिए लिख रहा हूँ कि हमारे वर्तमान साहित्यिक इसी राष्ट्रीय असंतुलन से बड़ी हद तक प्रभावित है। कुछ साहित्यिक कदाचित् इसी कारण इस स्थिति को बदलने का स्वप्न देखते है और साधन के रूप मे विदेशी विचार-धाराओ को अपनाते है। कुछ अन्य साहित्यिक राजनीति की इस अतिशयता से ऊबकर अत्यधिक कुंठित, उपेक्षाशील और आत्मकेंद्रित बन गये हैं और इस प्रकार स्वराज्य मिलने के पश्चात् रचनात्मक दिशा मे जो आशाप्रद कार्य हो सकता है, वह उतनी मात्रा मे नही हो रहा है।

यह तो रचनात्मक साहित्य की बात हुई। स्वराज्य मिलने के पश्चात् साहित्य के जो व्यावहारिक अंग हैं—ज्ञान-विज्ञान, दर्शन तथा विद्या के जो बहुमुखी क्षेत्र हैं—वे भी नये विकास की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उसके लिए जिस शांति और एकाग्रता की आवश्यकता है वह यथेष्ट मात्रा मे उपलब्ध नही हो रही है। देश के दुर्भाग्य से विघटनकारी प्रवृत्तिया इतनी बढती जा रही है और सौमनस्य की इतनी कमी है कि एक प्रतिक्रियात्मक क्राति या 'काउन्टर रेवोल्यूशन' की सी स्थिति समीप आ गई है। सयोजित और सुनियोजित रूप मे विभिन्न भाषाओ के विद्वानो के द्वारा कोई सघटित कार्य नही हो पा रहा है। ज्ञान-विज्ञान के नवीन विकास के आयोजन राष्ट्रीय पैमाने पर विश्वविद्यालयो अथवा अन्य विद्या-सस्थाओ द्वारा संचालित होने चाहिए। परन्तु इस प्रकार का सामूहिक कार्य भी राजनीति का मुँह देखता रहता है। पैसे कहा से

मिलेंगे, स्कीमे कहाँ से शुरू होगी, यही चिन्तायें वनी रहती है। नतीजा यह है कि स्वराज्य मिलने के पूर्व विपरीत परिस्थितियो मे जितना निर्माणात्मक कार्य व्यक्तिश: किया जा रहा था, उतना आज संघबद्ध होकर भी नही हो रहा है। इन विघटनकारी प्रवृत्तियो से अपनी और अपने देश की रक्षा करना आज के साहित्यिको का शायद सवसे वड़ा दायित्व है। दूसरी त्रुटियो के लिये तो हम दूसरो पर दोपारोप कर सकते है, परन्तु अपने ही समुदाय और अपनी ही त्रुटि के लिए हम किसे दोष दे सकते है?

इस सम्पूर्ण वक्तव्य में हमने स्वतंत्रता के पश्चात् की साहित्यिकों की समस्याओ और स्थितियो, उनके अभावों और अभियोगो पर ही अधिक दृष्टि डाली है। परन्तु हमने उनके दायित्व संकल्प और कर्त्तव्य-पक्ष की उपेक्षा नही की है। हमने उनकी कठिनाइयो का उल्लेख करना चाहा है। कठिनाइयाँ दूर होने पर दायित्व अपने आप ही कार्यान्वित होने लगते है। हमारे साहित्यिक समाजमे प्रतिभा, शक्ति, साहस और निर्माण-क्षमता की कमी नही है। परन्तु इनके प्रयोग का जितना अवसर उन्हे मिलना चाहिए, अब तक नही मिल रहा है। इसीलिए साहित्यिको की अधिकाश शक्ति परिस्थितियो से लडने में और अनेक वार उन्हे आत्म-समर्पण करने मे व्यय हो रही है। यदि इस अपव्यय से हमारे साहित्यकार सुरक्षित किये जा सके, तो हमारी साहित्यिक गतिविधि मे नया उन्मेप अकल्पित शीघ्रता से आ सकता है। उन्हे सुरक्षित रखने का कर्त्तव्य और दायित्व किसका है, यह वताने की आवश्यकता नही।

(सन् १९६१)

साहित्य और जीवन

हमारी हिन्दी में और अन्यत्र भी इन दिनों साहित्य और जीवन में घनिष्ठ संवंध स्थापित करने की जोरदार मांग वढ रही है। आज परिस्थिति ऐसी प्रवेगपूर्ण है कि इस मांग की खूव कद्र की जा रही है और खूव दाद दी जा रही है। स्कूलो और कालेजों के विद्यार्थी वड़े उमंग के साथ इस विषय के व्याख्यान सुनते और ताली वजाते है। लेखकगण घर के वाहर स्वदेशी लिवास में रहने में प्रतिष्ठा पाते है और समालोचकगण उत्कर्षपूर्ण साहित्यकार की अपेक्षा जेल का चक्कर लगा आने वाले 'सैनिक' साहित्यिक के वड़े गुणगान करते हैं। पत्र-पत्रिकाओ मे जोशीले लेख छपते है जो जीवन और साहित्य को एकाकार करने के एक कदम और आगे वढकर लेखो को लेखको के खून से शरावोर देखना चाहते है। एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न किया जाता है जो साहित्य-समीक्षा को जड़ से उखाड़ फेकने का सरजाम करेगा और जीवन को नितांत उग्र, और संभव है, पाषंडपूर्ण भी वना देगा। वंगाल में ऐसे ही विचार-प्रवाह के कारण महाकवि रवीन्द्रनाथ को, कियत्काल के लिए ही सही, धक्का उठाना पड़ा है और आज हिन्दी मे भी वही हवा चल रही है। हम जिस संकीर्ण वात्याचक्र मे घिरे हुए सांस ले रहे हैं, उसमे यदि साहित्य को राजनीतिक प्रचार का साधन वनाया जाय, तो यह स्वाभाविक ही है। ऐसा अन्य देशो मे भी होता रहा है। पर इसे ही साहित्यिक समीक्षा की स्थिर कसौटी वनाने और इसी के अनुसार उपाधि-वितरण करने का हम समर्थन नही करेगे। साहित्य और जीवन का संवंध देखने के लिए क्षणिक राष्ट्रीय आवश्यकताओ की परिधि से ऊपर उठने की आवश्यकता है। हम साहित्य के आकाश मे क्षितिज के पास के रक्तिम वर्ण को ही न

देखें, संपूर्ण सौरमण्डल और उसके अपार विस्तार, अगणित रंग-रूप के भी दर्शन करे। साहित्य की शब्दावली मे हम क्षणिक यथार्थ को ग्रहण करने मे लगकर वास्तविक यथार्थ का तिरस्कार न करे जो विविध आदर्शो मे सुसज्जित है। हम साहित्य और जीवन का संबंध अत्यन्त व्यापक अर्थ मे माने। देश और काल की सुविधा के ही मोह मे न पडे।

साहित्य के साथ जीवन का संबध स्थापित करने का आग्रह यूरोप मे पिछली वार फ्रासीसी राज्य-क्रांति के उपरांत किया गया और हमारे देश मे, आधुनिक रूप मे, यह अभी कल की वस्तु है। इग्लण्ड मे वर्ड्स-वर्थ और फ्रांस मे विक्टर ह्यूगो आदि साहित्यकार इस विचार-शैली का आविर्भाव करने वालो मे से है। प्रारभ मे इसका रूप अत्यन्त समीचीन था। यूरोप का मध्यकालीन जीवन अस्तंगत हो गया था। उसके स्थान पर नवीन जीवन का उदय हुआ था, जिसके मूल मे वड़ी ही सरल और सात्विक भावनाएं थी। नवीन जीवन के उपयुक्त ही नवीन समाज का विकास हुआ और इसी विकास के अनुकूल साहित्य मे भी प्रकृति-प्रेम, सरल-जीवन चेतना आदि की भावनाएं दीख पडीं। यहां तक कृत्रिमता किंचित् नही थी। अंग्रेजी साहित्य मे मैथ्यू अर्नल्ड और वाल्टर पेटर जैसे दो समीक्षक-एक जीवन-पक्ष पर स्थिर होकर और दूसरा कला अथवा सौन्दर्य-पक्ष पर मुग्ध होकर - समान रीति से कवियो की प्रशंसा कर सकते थे, परन्तु वहुत दिन ऐसे नही रह सके। शीघ्र ही यूरोप मे राष्ट्रीयता और प्रादेशिक भावनाओं का विस्तार हुआ और रूस मे समाज-संवंधी शक्तिशालिनी उत्क्राति हुई। रूसी साहित्य को वहां के समाजवाद की सेवा मे उपस्थित होना पड़ा, जिसके कारण उसकी स्वतन्त्रता वनी न रह सकी। साहित्य अधिकाश मे राष्ट्र के सामाजिक और राजनीतिक संघटन का प्रयोग-साधन वन गया। नवीन युग की नवीन वस्तु के रूप मे उसको वाजार अच्छा मिला और आज उसका सिक्का यूरोप ही नही, भारत मे भी, धडाके से चल रहा है। परंतु इतना तो

स्पष्ट है कि इस रूप मे साहित्य परतंत्र सामयिक जीवन की वंधी हुई लीक में चलने को वाध्य किया जाता है। साहित्य और जीवन का स्वभावसिद्ध संवंध सर्वथा मंगलमय है। पर क्या इस प्रकार का संवध स्वभावसिद्ध कहा जा सकेगा ? जीवन की स्वच्छद धारा ही जहा वँधी हुई है, वहा साहित्य तो शिकजे मे जकड़ा हो रहेगा। आज साहित्य और जीवन का संवध जोड़ने के वहाने साहित्य को सकीर्ण यथार्थ की जिस अधेरी गली मे ले चलने का उपक्रम किया जाता है, हम उसकी निन्दा करते है।

साहित्य और जीवन का सवंध जोड़ने के सिलसिले मे समीक्षको ने साहित्यकार के व्यक्तिगत वाह्य जीवन से भी परिचित होने की परिपाटी निकाली। यातायात के सुलभ साधनो के रहते, सम्मिलन के सभी सुभीते थे। वस साहित्यकार को भी 'पव्लिकमैन' वना दिया गया। साहित्यालोचन की जो पुस्तकें निकली, उनमे यह आग्रह किया गया कि साहित्यकार की व्यक्तिगत जीवनी का परिचय प्राप्त किए विना उसके मस्तिष्क और कला का विकास समझ मे नही आ सकता। ऐतिहासिक अनुसंधानो के इस युग मे यदि कवियो और लेखको का अन्वेपण किया गया, तो कुछ अनुचित नही। इस प्रणाली से वहुत-से लाभ भी हुए। मस्तिष्क और कला के विकास का पता चला और वहुत-से पापडी प्रकाश मे आए। परन्तु जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियाँ इतनी वहुमुखी हैं कि इस सवंध मे अधिक-से-अधिक सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है; नही तो एक कलकतिया सपादकजी की तरह 'सैनिक' और 'साहित्यिक' तथा 'आनंद-भवन' और शातिनिकेतन' के वीच मे ही अटक रहने का भय है। 'सैनिक' होने मे ही कोई साहित्य-समीक्षक की सराहना का अधिकारी नही वन सकता, क्योकि 'सैनिक' वनने का पुरस्कार उसे जनता के साधुवाद अथवा व्यवस्था-सभा के सभासद के रूप में प्राप्त हो चुका है। साहित्यिक दृष्टि ने 'सैनिक' का स्वत. कोई

महत्व नही । 'सैनिक' इस शब्द का जो भावार्थ है, साहित्य के भीतर से सैनिक की आत्मा का जो प्रकाश है, वह हमारी स्तुति का विषय बनना चाहिए। साहित्य और जीवन का यह संबंध है, जिसको हम साहित्य-समीक्षा की एक स्थायी कसौटी बना सकते है, पर हिन्दी मे लोग ऐसा नही करते । अंग्रेजी साहित्य-समीक्षा मे यह व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण की परिपाटी काफी समय तक चली, पर हाल मे इसका प्रयोग कम पड़ रहा है और शायद इसका त्याग किया जा रहा है । जीवन की जटिल अज्ञेयता से परिचित हो जाने पर साधारण स्थूल-दृष्टि आलोचक इस मार्मिक प्रणाली का त्याग कर दें, यह अच्छा ही है; नही तो साहित्य मे बडा विषम भाव और बडा विद्वेष फैलने की आशंका है ।

साहित्यकार को जीवन के संबंध मे स्वतंत्र विचार रखने और भिन्न-भिन्न साहित्य-सरणियो मे चलने के अधिक से अधिक अधिकार मिलने चाहिएँ। उसके अध्ययन, उसकी परिस्थिति और उसके विकास को हम सामयिक आवश्यकताओ और उस संबंध की अपनी धारणाओ से ही नही परख सकते । हमे उसकी दृष्टि से देखना और उसकी अनुभूतियो से सहानुभूति रखना सीखना होगा । हम कवियो और लेखको के नैतिक और चरित्र-संबधी स्खलन ही न देखे, प्रचलित सामाजिक अथवा राजनीतिक कार्यक्रम से उनकी तटस्थता की ही निंदा न करे, यदि वास्तव मे उन्होंने अपनी साहित्य-सृष्टि द्वारा नवीन शैली, नवीन सौन्दर्य-कल्पना और भव्य भाव-जगत की रचना की है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के महर्षित्व पर नवयुवक बंगालियो ने विकट-विकट आक्षेप किए है और वर्तमान राजनीति मे सक्रिय भाग न लेने के कारण उनके विरुद्ध कठोर व्यग्यो की झड़ी लगा दी है, पर क्या साहित्यिक समीक्षा की अब ये ही प्रणालिया रह जायंगी ! जिस देश के दर्शन-शास्त्र गोचर-क्रिया को विशेष महत्व नही देते, चेतनशक्ति पर विश्वास रखते हैं, उसमे महाकवि रवीन्द्रनाथ को इससे अच्छे पुरस्कार मिलने

चाहिएँ। रवि बाबू स्वदेश-प्रेम को सम्पूर्ण मनुष्यता और विश्वप्रेम के धरातल पर उठाकर रखने में समर्थ हुए है, उन्होने स्वदेश की प्रादेशिक सीमा के जड़त्व का नाश किया है—अपनी उदार अनुभूतियों और अपनी विराट कल्पना की सहायता से। उन्होने संसार की शांति और साम्य के लिए एक व्यापक आदर्श की सृष्टि की है, जिसकी संभावनाएँ भविष्य मे अपार हैं। इसके लिए यदि हम उनके कृतज्ञ नही होते और यह जरूरी समझते है कि वे जनता के नेता का रूप धारण करे, तो यह हमारी ही संकीर्ण भावना है जो हमें प्रकृति की अनेकरूपता को समझने नही देती।

साहित्य और जीवन मे घनिष्ठ-से-घनिष्ठ संबंध स्थापित होने पर भी दोनो मे अन्तर रहेगा ही। जीवन तो एक धारा-प्रवाह है, साहित्य मे उसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूंदे एकत्र की जाती हैं। जीवन के अनत आकाश मे साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक वितरण करते हैं। सामयिक जीवन तो अनेक नियमित-अनियमित, ज्ञात-अज्ञात घटनावली का समष्टि रूप है। साहित्य में कुछ नियम भी अपेक्षित है। यह अवश्य है कि हम जिस हवा मे साँस लेते है, प्रत्येक क्षण उसके परमाणु हम में प्रवेश पाते है, तथापि हमारा साहित्य केवल इन परमाणुओ का संग्रह होकर ही नही रह सकता। प्रत्येक सभ्य और प्रतिभाशाली मनुष्य वर्तमान मे रहता हुआ अतीत और भविष्य में भी रहता है। साहित्यकार के लिए तो ऐसा और भी स्वाभाविक है। महान कलाकार तो देश और काल की सीमा भंग करने मे ही सुख मानते हैं और सार्वभौम समाज के प्रतिनिधि बन कर रहते हैं। सामयिक जीवन का उनके लिए उतना ही महत्व है जितना वह उनके विराट, सर्वकालीन यथार्थ जीवन की कल्पना मे सहायक बन सकता है। निश्चय ही यह महान कलाकारो की बात कही जा रही है।

साहित्य-कला की कुछ ऐसी सुष्ठु, प्रभावशाली और सुन्दर

विशेषताएँ है जो जीवन के स्थूल यथार्थ से मेल नही खाती । साहित्य मे 'राम' और 'कृष्ण' चिर-सुदर अंकित किए जाते है, कलाओ में उनके चित्र भी वैसे ही मिलते है, पर जीवन में तो वे वैसे नही रहे होंगे। साहित्य की अतिशयोक्तियाँ, इन्द्रधनुप-सी, जीवन के स्थूल, अकाल्पनिक और रूखे अस्तित्व को मनोरम वना देती है। साहित्य में मनुष्य का जीवन ही नही, जीवन की वे कामनाएँ जो अनंत जीवन मे भी पूरी नही हो सकती, निहित रहती है। जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है, तो साहित्य मे उस अभिव्यक्ति की आशा-उत्कंठा भी सम्मिलित है। जीवन यदि सम्पूर्णता से रहित है, तो साहित्य उसके सहित है; तभी तो उसका नाम साहित्य है। तभी तो साहित्य जीवन से अधिक सारवान और परिपूर्ण है तथा जीवन का नियामक और मार्गद्रष्टा भी रहता आया है।

(सन् १९३१)

साहित्य और सामाजिक प्रगति

साहित्य और सामाजिक जीवन का क्या संबध है, यह प्रश्न आज एक विशेप प्रयोजन से पूछा जाता है। वर्त्तमान भारतीय समाज एक ऐसी अवस्था पर पहुँच गया है जिसके आगे अज्ञात संभावनाएँ छिपी हुई हैं। विशेपत. हमारे शिक्षित नवयुवको के लिए यह क्रान्ति की घड़ी है। सब ओर से हमारी दृष्टि खिच कर इसी प्रश्न की ओर आ लगी है। साम्राज्यशाही का बोझ असह्य हो गया है और आर्थिक वैषम्य का नग्न नृत्य देखा नही जाता। इसी आवेग में हम वार-वार पूछते है, साहित्य और समाज का क्या संबध है ?

सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्क्स ने हमारी स्थिति और भी स्पष्ट कर दी है। उसने हमारे लिए सोचने को कुछ रक्खा ही नही। मार्क्स ने अर्थ-योजना को लेकर जो सिद्धान्त उद्घाटित किया, उसका अलग-अलग क्षेत्रो मे अनेकमुखी प्रसार हुआ। साहित्य-क्षेत्र भी आज मार्क्सवादी विचारो से पूर्णत: प्रभावित है ऐसी अवस्था मे साहित्य के सामाजिक आधार का प्रश्न पुनः-पुन उठकर शंका उत्पन्न करता है कि हम साहित्य को किसी मतवाद के घेरे मे तो नही डाल रहे।

हम यह मानते है कि भारतवर्ष मे आज का मुख्य प्रश्न राजनीतिक और आर्थिक है। हम यह भी मानते हैं कि मार्क्स के सिद्धांत वड़ी हद तक वैज्ञानिक है और भारतीय स्थिति पर भी लागू होते है। हम यहाँ तक मानने को तैयार है कि आज के साहित्यिक का प्रधान कर्त्तव्य मार्क्स के सुझाये हुए वर्ग-संघर्ष मे अपने पक्ष का ज्ञान और निर्णय कर लेना है। किन्तु यह सब होते हुए भी हम नही मान सकते कि साहित्य की

अपनी स्वतंत्र सत्ता नही है, वह किसी सामाजिक मत-विशेष का अनु-चर-मात्र है।

यदि मार्क्स का सिद्धान्त अपनी पूरी कड़ाई के साथ साहित्य-क्षेत्र मे स्वीकार कर लिया जाय, तो हमे मान लेना होगा कि हमारे पुराने साहित्य की अब कोई उपयोगिता नही रह गई। किन्तु यह वात न केवल असंगत है, एकदम असत्य भी है। इसका मुख्य कारण यह है कि साहित्य परिवर्तनशील वस्तु-व्यापार मे केन्द्रित विचार-धारा मात्र नही है, वह जीवन के मार्मिक और स्थायी स्वरूपों का जीता-जागता चित्र है। साहित्य सामाजिक इतिहास का अंग नही है, वह उसका गतिमान स्मारक है। समाज और इतिहास के बदल जाने पर भी स्मारक नही वदला करता। फिर साहित्य समाज की श्रेष्ठतम संस्कृति का द्योतक है—मानवता कीस्थायी निधि है। इन सबके अतिरिक्त वह एक स्वतंत्र कलावस्तु है। वाणी और मानव-भावना का साकार वैभव है।

यह ठीक है कि कवि भी एक सामाजिक प्राणी है, इतिहास की इकाई है। वह भी समय और उसकी सामूहिक प्रेरणा द्वारा संचालित होता है। कवि कें व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के संस्कार उसके काव्य पर भी पड़ते हैं, किन्तु कविता उन संस्कारों का संग्रहमात्र नहीं है। कविता समय और समाज के घेरे मे वंधे हुए कवि की स्वतंत्र जीवन-कल्पना है। वह उसकी असाधारण अनुभूति है। साधारण जीवन-वस्तु से उसकी तुलना नही की जा सकती। कवि जितना ही महान होगा, उसकी कल्पना समय के स्थूल प्रभावो से उतनी ही निर-पेक्ष होगी।

किसी भी युग के, किसी भी शैली के, संसार के किसी भी देश के किसी श्रेष्ठ कवि को उदाहरण स्वरूप ले लीजिए, उपर्युक्त तथ्य का प्रमाण मिल जायगा। किन्तु आज हमारे देखने में ऐसे समीक्षक और लेखक आ रहे हैं जो मार्क्सवाद की स्थूल दृष्टि से काव्य की समीक्षा

करते है और काव्य की रचना भी। मार्क्सवाद हो या कोई वाद हो, वह काव्य की कसौटी नही बन सकता। वह काव्य की प्रेरक शक्तियो को, समय को और सामाजिक कर्त्तव्य को समझने मे सहायक हो सकता है, किन्तु काव्य का नियामक नही बन सकता।

काव्य के अपने क्षेत्र पर समय-समय पर अनेक वादो के हमले हुए है। कभी धर्म ने उस पर आक्रमण किया, कभी दर्शन ने और कभी अध्यात्म ने। कभी किसी विज्ञान ने उस पर अधिकार प्राप्त करना चाहा; कभी किसी वाद की भरमार रही, कभी किसी की। सबने अपनी-अपनी ओर खीचकर काव्य के अपने स्वरूप को विकृत करना चाहा। उसके स्वच्छ स्वरूप पर कई प्रकार के धब्बे डाल दिए। आज मार्क्स वाद भी कुछ इसी प्रकार का उपक्रम कर रहा है। यह कोई नई बात नहीं है।

काव्य की अपनी सत्ता पर चोट करनेवाले इन सभी वस्तु-व्यापारो से हमे सावधान रहना होगा। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि हम धर्म, दर्शन, अध्यात्म, विज्ञान अथवा किसी भी मानव-विद्या का तिरस्कार करते है और काव्य मे उसका प्रवेश-निषेध चाहते हैं। इन्ही विद्याओ के आधार पर तो जीवनतत्व का निर्माण होता है। इनकी उपेक्षा कवि कर ही कैसे सकता है! यदि वह इनकी उपेक्षा करेगा तो उसकी कविता मे रह ही क्या जायगा—जीवन-निरपेक्ष रस, कोरा अलंकार और शब्दा-डम्बर! कविता के लिए कविता और कला के लिए कला। इससे बढ-कर भ्रामक वस्तु और क्या होगी!

तात्पर्य यह कि हम साहित्य से समाज का, सामाजिक जीवन का, सामाजिक विचार-धाराओ का—वादो का, संबध मानते है, किन्तु अनुवर्ती रूप मे। साहित्य की अपनी सत्ता के अन्तर्गत उसके निर्माण मे इनका स्थान है। ये उसके उपादान और हेतु हुआ करते है, नियामक और अधिकारी नही। साहित्य की अपनी स्वतत्र सत्ता है, यद्यपि वह

सत्ता जीवन-सापेक्ष है। जीवन-निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रान्ति है, जीवन-सापेक्ष कला के लिए कला सिद्धांत है। संक्षेप में यही हमारी स्थिति है।

काव्य या साहित्य के अनेक विभाग है। गद्य और पद्य, दृश्य और श्रव्य। उसके अनेक उपविभाग है—उपन्यास और आख्यायिका, निबन्ध और प्रबंध, महाकाव्य-खण्डकाव्य, आख्यानक और मुक्तक, नाटक और उसके अनेक भेद। इन सबका अलग-अलग इतिहास है। देश-भेद से इनकी अलग-अलग प्रकृति है। समाजभेद से इनका नया-नया विकास है। किन्ही दो व्यक्तियो की रचना एक-सी नही होती। इन असख्य भेदो के रहते हुए भी कविता कविता है, साहित्य साहित्य है। वाह्य बहुरूपता मे एक अन्तरव्यापिनी एकता है। इसी एकता की खोज साहित्य-तत्व की खोज है।

कविता क्या है—यह प्रश्न अब यहाँ उपस्थित है। काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियो का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य-मात्र मे स्वभावतः अनुरूप भावोच्छवास और सौन्दर्य-सवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य-संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते है, यद्यपि यह स्वीकार करना होगा कि 'रस' का हमारे यहाँ दुरुपयोग भी कम नही किया गया। ऊपर की व्याख्या से हम काव्य या साहित्य-मात्र के संबंध मे कतिपय निष्कर्षों पर पहुँच सकते है। प्रकृत मानव-अनुभूति एक सार्वजनिक वस्तु है; इसमे वे कृत्रिम अनुभूतियाँ सम्मिलित नहीं हैं, जिनकी शिक्षा कुछ विशेष व्यक्तियों या वर्गो द्वारा दी जाती है, जिससे साम्प्रदायिक काव्य का निर्माण होता है। इन अनुभूतियो का चित्रण जिस नैसर्गिक कल्पना के सहारे होता है, उसकी उद्‌भाविका कवि की प्रतिभा होती है। यह कल्पना जितनी ही नैसर्गिक और प्रशस्त होगी, उतने ही उन्नत काव्य का सृजन करेगी, उतनी ही चित्रण की सौन्दर्यमयता बढ जायगी और

उतना ही समुन्नत और प्रगाढ़ उसका संवेदन होगा। सार्वजनीन होने के कारण ही यह सौन्दर्य-तत्व नित्य और शाश्वत है। एक ही कविता सैकड़ो-हजारो वर्ष के वाद भी वही सौन्दर्यचेतना उत्पन्न करती है, जो उसने आरंभ मे उत्पन्न की थी।

अवश्य कविता सार्वजनीन और शाश्वत वस्तु है, किन्तु कवि के व्यक्तिगत विकास और संस्कार के अनुसार उसकी सौन्दर्यानुभूति की शक्ति, मात्रा और कीमतीपन मे अन्तर हुआ करता है, और उन अनुभूतियो को व्यक्त करने का सामर्थ्य या योग्यता भी कम या अधिक हुआ करती है। इन सारी वस्तुओं का परिचय हमे कवि की उस रचना से ही प्राप्त होता है, इसलिए काव्य-विवेचन में रचना या अभिव्यक्ति ही सव कुछ है। वास्तव मे काव्य के उत्कर्ष या अपकर्ष की परीक्षा इन्ही विशेषताओ के आधार पर की जा सकती है। यो, व्यावहारिक विभाग के लिए हम महाकाव्य, गीतकाव्य, उपन्यास, आख्यायिका और नाटक आदि के विभाग करते हैं। उनके विभिन्न तत्वो का, इतिहास और सामाजिक विकासक्रम में उनके परिर्वातत स्वरुपो का, अध्ययन करते है। किन्तु काव्य-साहित्य का तात्विक मूल्य तो प्रथम वर्गीकरण मे ही है।

अव यह पूछा जा सकता है कि कविता यदि शाश्वत वस्तु है तो उसपर देश-काल आदि की वदलती हुई स्थितियो और विचार-धाराओ का क्या कुछ भी प्रभाव नही पड़ता? यह पहेली ऊपर से जितनी संदिग्ध जान पड़ती है, वास्तव मे वह उतनी है नही। देश, काल और वातावरण का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति और समाज पर पडता है। कवि की दृष्टि तो और भी तीव्र और ग्राहिका शक्ति सजग रहती है। इसलिए सच्चे कवि और साहित्यकार प्रायः प्रगतिशील ही हुआ करते हैं। किन्तु कवि का कार्य प्रगतिशील होना ही नही है। प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओं, स्वरुपो और प्रवृत्तियो को शाश्वत सौन्दर्य-संवेदन

का स्वरूप देना उसका कार्य है। आज का प्रगतिशील व्यक्ति कल पिछड़ सकता है, किन्तु हृदय के चिरन्तन सौन्दर्यतारों को स्पर्श करनेवाला कवि कभी पिछड़ता नहीं। कालिदास और शेक्सपियर, होमर और मिल्टन, बाल्मीकि और व्यास, सूर, तुलसी और कबीर शताब्दियों पुराने हैं, किन्तु उनका काव्य उतना ही मनोरम आज है जितना वह अपने निर्माण के दिन रहा होगा।

पर आज हमें ऐसे समीक्षक भी मिलते है जो इन कवियों को अथवा इनमें से कुछ को आज के लिए प्रतिगामी, प्रतिक्रियाशील अथवा पिछड़ा हुआ बतलाते है। अवश्य इन समीक्षको की दृष्टि काव्य पर नही है, बल्कि उस सामाजिक संघटन पर है जिसमें वह काव्य रचा गया था। वे समाज के नए रूपों और विचारो के साथ उन पुराने रूपो और विचारों का मेल किसी प्रकार नही मिल पाते। किन्तु तुलसी, सूर और कबीर की रचना—या किसी भी महान् कवि की कृति मे—तत्कालीन सामाजिक संघटन का क्या महत्व है, और क्या उतने ही तक वह कविता सीमित है, यह आकलन भी इन समीक्षकों को करना चाहिए। ऐसा करने पर उन्हे ज्ञात होगा कि सामाजिक संघटन और विचारधारा का बखेड़ा छोड़ देने पर भी उन कृतियो मे जो बच रहता है, वह सम्मान की वस्तु है। सम्प्रति हमारे साहित्य मे बौद्धिक विचार का प्राधान्य होने के कारण वादों को प्रमुखता मिल रही है, किन्तु आशा है यह ज्वार शान्त होने पर काव्य को उसकी नैसर्गिक प्रतिष्ठा प्राप्त होगी।

ऊपर मैंने जो कुछ कहा उसका यह आशय नहीं कि कवि और साहित्यकार बदलते हुए समय और बदलती हुई परिस्थिति के अनुरूप नए विचारो का स्वागत न करें। मैं कह चुका हूं कि अपनी तीव्र संवेदनाओं के कारण वे ही नए युग के अग्रदूत और विधायक हुआ करते हैं। नई जीवन-स्थितियां उनपर अनिवार्य रूप से प्रभाव डालती हैं और नए ज्ञान को वे आदर के साथ अपनाते है। वर्तमान समय में हमारा पुराना

सामाजिक और आर्थिक ढांचा बदल रहा है और नई समस्याएं सामने आ रही है। इनका असर सारी सामाजिक रीति-नीति और प्रथाओं पर पड़ रहा है। इन सबमे परिवर्तन अवश्यम्भावी है। कहना तो यह चाहिए कि तीव्र वेग से घटित होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप ही पुरानी व्यवस्था उच्छिन्न हो रही है। नई जीवन-शक्तियों को न पहचानना और प्रगति का साथ न देना, न केवल अदूरदर्शिता होगी, आत्मघात भी कहा जायगा।

कहा जाता है कि इन परिवर्तनों के साथ-साथ समाज की नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादाएं बदल जायेगी और काव्य की माप मे भी अन्तर आ जायगा। ये दोनों ही बातें भ्रमपूर्ण हैं। जहां तक उन प्रथाओं का संबंध है जो प्रचलित विधि-निषेधो का द्योतन करती है, उनका बदल जाना स्वाभाविक है, किन्तु उनके कारण हमारी नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादा का—हमारे सास्कृतिक मान का बदल जाना सिद्ध नही होता, क्योकि वह तो हमारी नसो मे व्याप्त है। उल्टा उसकी परीक्षा ही इन परिवर्तनो मे होगी। और, काव्य पर इन परिवर्तनो का क्या असर हो सकता है? वह तो अमिट सौन्दर्य की सृष्टि है। आप पूछ सकते है कि बिना वैज्ञानिक दृष्टि से परिवर्तन के क्रमो का अध्ययन किए, बिना नवीन मनोविश्लेषण की जानकारी रखे—संक्षेप मे बिना नवीन वादो का आश्रय लिए—हमारा काव्य समय के साथ रह ही कैसे सकता है? इसका सीधा उत्तर यह है कि हम इन अध्ययनो से मुँह नही मोड़ना चाहते, किन्तु हम वादो से भी अधिक जीवन का—चारो ओर फैले हुए जीवन का—अध्ययन करना चाहते है और इस अध्ययन से प्राप्त सुष्ठुतम अनुभूतियो का काव्य-प्रणाली से अभिव्यंजन करना चाहते हैं। इन अनुभूतियो मे जीवन का रस और इस अभिव्यंजन मे स्वानुभूत सौन्दर्य की आभा होगी, इतना ही हमारे लिए अलम् है।

अन्तिम प्रश्न काव्य में वादो की स्थिति का है। वाद तो वास्तव मे

जीवन-संबंधिनी धारणाओ और प्रवृत्तियो के बौद्धिक निरूपण हैं। प्रत्येक वाद की एक सीमारेखा होती है। प्रत्येक वाद के अन्तर्गत समय-समय पर ऐसी जीवन-दृष्टियाँ संघटित होती हैं, जिनसे सामाजिक उन्नति और ह्रास दोनो के संयोग इकट्ठे हो सकते हैं। प्रत्येक वाद मे शक्तिमत्ता और दुर्बलता के परमाणु समयानुसार घटते-बढते रहते हैं। किसी भी वाद के साथ न्याय करने के लिए उसकी पारिभाषिक शब्दावली का उसके अभिप्रेत अर्थ में, युग की ऐतिहासिक प्रगति को ध्यान मे रखकर, अध्ययन करना आवश्यक है। विना इसके वाद के साथ न्याय नही हो सकता।

वाद एक स्थूल और परिवर्त्तनशील जीवन-दृष्टि है। काव्य जीवन-व्यापी अनुभूति है। काव्य और वाद दोनो के स्वरूपो और प्रक्रियाओं में अन्तर है। सामाजिक जीवन से दोनो का निष्क्रमण होता है, काव्य का भी और वाद का भी। किन्तु एक की प्रणाली हार्दिक और व्यक्तिमुखी है, दूसरे की सैद्धान्तिक और समूहमुखी। काव्य का कार्य है सवेदना की सृष्टि करना; वाद का कार्य है ज्ञानविस्तार करना। वाद का स्वरूप एकदेशीय है; काव्य का सार्वभौम। वाद की सार्थकता सामाजिक विकास के साथ अग्रसर होने में है; काव्य का सौन्दर्य चिरनवीन रहने मे है। काव्य का लक्ष्य मानव-स्वभाव और मानवीय भावना के मार्मिक और स्थायी रूपो का चित्रण है। वाद का लक्ष्य है तथ्य-विशेष की बौद्धिक व्याख्या करना। काव्य सूक्ष्म और असाधारण परिस्थितियो मे मानव-चरित्र और आचरण की भावमयी झाकी दिखाता है; वाद साधारण और असाधारण समस्त परिस्थिति का सामूहिक आधार लेकर चलता है और उसी पर अपना नियम-निरूपण करता है। काव्य-कल्पना एक वार कवि की वाणी का आश्रय लेकर जो रूप-निर्माण करती है, उसकी अनुरूप अनुभूति प्रत्येक सहृदय को सभी देशो और सभी समयो मे अनायास ही होगी; किन्तु वाद के द्वारा जिस सत्य का एक वार निरूपण

होता है, वह नया ज्ञान उपलब्ध होने पर फीका पड़ जाता है—कभी-कभी अर्व-सत्य या असत्य भी वन जाता है, और तव उस वाद को नए व्यक्तियों द्वारा नया जीवन देने की आवश्यकता होती है; नए सिरे से समझाना होता है, नया संशोधन और नई उपपत्तियाँ रखनी पड़ती हैं। और इतना करने पर भी वह सदैव पुनरुज्जीवित नही हो पाता। अस्तु, हम कह सकते है कि काव्य और वाद दोनों ही मानव-जीवन से सम्वद्ध हैं, किन्तु दोनों का क्षेत्र पृथक् है। सहकारी होते हुए भी दोनो की कार्यशैली भिन्न है। प्रक्रिया, लक्ष्य और प्रभाव भिन्न हैं। आशा है, इन दोनो का अन्तर अव स्पष्ट हुआ होगा।

———

साहित्य का प्रयोजन : आत्मानुभूति

साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति है, यहाँ 'प्रयोजन' और 'आत्मानुभूति' शब्दो पर पहले विचार कर लेना आवश्यक है। 'प्रयोजन' शब्द कभी निमित्त के अर्थ मे आता है, और कभी उद्देश्य के अर्थ में व्यवहृत होता है। इससे कभी हेतु या कारण का अर्थ लिया जाता है, और कभी फल या कार्य का। विशेषकर हिन्दी में इसके प्रयोगो मे बड़ी विभिन्नता है। यहाँ हम इसका प्रयोग हेतु या प्रेरक के अर्थ में ही कर रहे हैं। आत्मानुभूति साहित्य का प्रयोजन है, इसका अर्थ हम यह लेते है कि आत्मानुभूति की प्रेरणा से ही साहित्य की सृष्टि होती है।

'आत्मानुभूति' शब्द भी निश्चयार्थक नही है। इसके प्रयोग में भी बड़ा मतभेद है। यह दर्शन-शास्त्र का शब्द है, परन्तु कुछ दार्शनिक तो इस शब्द को ही स्वीकार नही करते। उनका कहना है कि आत्मा के साथ अनुभूति का संबध ही नही है, अतः ये दोनों शब्द एक साथ नही रह सकते। आत्मा निरपेक्ष तत्व है और अनुभूति सापेक्ष गुण है। निरपेक्ष तत्व का सापेक्ष वस्तु से कोई योग नही हो सकता। अखंड, अज, अव्यय, नित्य, अविकारी, आत्मा से सीमित, व्यक्तिगत अथवा समूहगत अनुभूति का संबध संभव नही है। 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः'। त्रिकाल मे भी न उत्पन्न होनेवाली और न मरनेवाली आत्मा से देश-काल परिच्छिन्न अनुभूतियो की क्या संगति ?

जहाँ एक ओर यह धारणा या मत है, वही दूसरी ओर आत्मा और अनुभूति का परस्पर संबंध माननेवाले दार्शनिक और विचारक भी

हैं। यदि पहला तत्वज्ञान उपनिषद् और गीता का है, तो दूसरे मत की प्रतिष्ठा भी उपनिषद् और गीता से ही की जाती है। भारतीय तत्व-चिंतन मे पुरुष और प्रकृति के साथ-साथ आत्मा और अनुभूति का सापेक्ष संबंध स्थिर करनेवाले अनेक आचार्य है। विशेषकर द्वैतवादी दर्शनो मे इस प्रकार की विचार-भूमिकाएँ मिलती है। शक्ति-सिद्धांत को माननेवाले सम्प्रदाय जो अपने मत-चिंतन को शक्ति-अद्वैत के नाम से घोषित करते हैं, आत्मा को शक्ति रूप ही स्वीकार करते हैं। उनके विचार में शक्ति ही आत्मा है, अनुभूति शक्ति है, अतः अनुभूति ही आत्मा है।

इस प्रकार आत्मा और अनुभूति के संबंध की अनेकरूपता का आभास हमे भारत की विभिन्न चिंता-धाराओं से प्राप्त होता है। हम यहाँ किसी एक मत को स्वीकार करने या दूसरे मत का तिरस्कार करने की दृष्टि से इस दार्शनिक चर्चा में नही पडे हैं। हमारा प्रयोजन केवल आत्मानुभूति शब्द और उसके अर्थ पर दृष्टिपात करना है, और हम देखते हैं कि इस शब्द को लेकर दार्शनिकों मे मतैक्य नही है। मतैक्य तो दूर, आत्मा और अनुभूति के पारस्परिक संबंध को लेकर सभी संभव दृष्टियों के स्थापन की चेष्टाएँ की गई है, जिनमे साम्य या समन्वय ढूंढने का प्रयास हम यहाँ नही कर सकेंगे। एक ओर निरपेक्ष और स्वाधीन आत्म-तत्व के साथ त्रिकाल मे भी अनुभूति का कोई संबंध न माननेवाले अद्वैत दार्शनिक है, दूसरी ओर अनुभूति के विना आत्मा की सत्ता ही न स्वीकार करनेवाले शक्ति-तन्त्र के संस्थापक आचार्य है, और इन दोनो के मध्य आत्मा और अनुभूति का वहुरूपी संबंध स्थिर करनेवाले सापेक्षवादी द्वैत चिंतक है। हम इस अंतहीन विचार-व्यूह मे प्रवेश करने मे अभिमन्यु की भाँति ही शंकित हैं, अतएव हम इससे विरत रहकर ही संतोष करेंगे।

सच तो यह है कि हमें इस दार्शनिक ऊहापोह मे जाने की

आवश्यकता ही नही है। हमारा प्रस्तुत विषय इसकी अपेक्षा नहीं करता। आत्मानुभूति के स्थान पर हमारा काम केवल अनुभूति से चल सकता है। अतः हम आत्मानुभूति के शब्द-प्रपंच मे न पड़कर 'अनुभूति' से ही काम निकालेंगे।

काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है, यह स्वतः एक अनुभूत तथ्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस का निर्माण करते समय लिखा था—'स्वात. सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंध मति मंजुल मातनोति'। यहाँ 'स्वांतःसुखाय' से उनका तात्पर्य आत्मानुभूति या अनुभूति से ही है। रस-सिद्धात का निरूपण करनेवाले शास्त्रज्ञो ने काव्य का उपादान विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि को बताया है। साहित्य-मात्र के मूल मे अनुभूति या भावना कार्य करती है, यह रस-सिद्धान्त की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है।

हम एक नाटक का अभिनय देखते हैं जिसमे अनेक पात्र भिन्न-भिन्न भूमिकाओ मे उपस्थित होकर परस्पर वार्तालाप करते है और अनेक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराते हुए नाटकीय व्यापार को आगे बढाते है। इसमे हमें नाटककार की अनुभूति प्रत्यक्ष दिखाई नही देती, परंतु यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पात्र की अनुभूति के रूप मे रचयिता की अनुभूति काम करती रहती है। हम कोई उपन्यास पढते है, जिसमे विविध व्यक्तियो की दैनिक घटनावली का चित्रण रहता है। पढते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि हम जीवन के वास्तविक रूप को ही देख रहे है और उन घटनाओ का परिचय पा रहे है जो वास्तव मे घटित हुई है। हम इस ऊपरी जीवन-व्यापार मे रचयिता की सत्ता को भूल जाते है, पर क्या उसकी अनुभूति के बिना वह रचना किसी प्रकार संभव है? क्या स्रष्टा की अनुभूति से रहित काव्य-सृष्टि की कल्पना भी की जा सकती है?

काव्य मे अनुभूति की इस व्यापकता का निर्देश करने मे भारतीय

साहित्य शास्त्र का ध्वनि-सिद्धांत अत्यन्त उपयोगी है। वह प्रमुख रूप से इसी तत्व पर प्रकाश डालता है कि काव्य और साहित्य की वाहरी रूपरेखा के मर्म मे आत्मानुभूति या विभावन व्यापार ही काम करता है। काव्य की सम्पूर्ण विविधता के भीतर एकात्म्य स्थापित करने वाली यही शक्ति है। संपूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है, और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और वह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।

यहाँ कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित होते है जिनकी ओर हमे आवश्यक रूप से ध्यान देना पड़ता है। काव्य-साहित्य मे अनुभूति की व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी क्या हम उसे सम-रस या सम-रूप कह सकते हैं? क्या समस्त कवियो और रचनाकारो की अनुभूति एकरूप या समान होती है? यदि नहीं तो क्या अनुभूति मे स्वरूप-गत भेद होते है? इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह है कि साधारण अनुभूति और काव्यानुभूति एक ही है या उनमें भी अंतर है? अंतर है, तो किस प्रकार का? साधारणतः हम देखते है कि प्रत्येक व्यक्ति मे कुछ न कुछ अनुभूति होती है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति मे काव्य शक्ति नही होती। उसमें अपनी अनुभूतियो के प्रकाशन की क्षमता नही होती। तो क्या ये दोनों वस्तुएँ-अनुभूति और काव्यानुभूति—स्वरूपतः भिन्न हैं?

यहाँ सुविधा के लिए हम दूसरे प्रश्न को पहले लेंगे। यह संभव है कि प्रत्येक व्यक्ति कवि नही होता, उसमे अपनी अनुभूतियों के प्रकाशन की योग्यता नही होती। पर इतने से ही यह नही कहा जा सकता कि साधारण अनुभूति और काव्यगत अनुभूति दो भिन्न वस्तुएँ है। इस संबंध मे वर्तमान युग के प्रसिद्ध कलाशास्त्री वेनिडीटो क्रोचे का मत ध्यान देने योग्य है। क्रोचे का कथन है कि अनुभूति वही है जो काव्य या कलाओ के रूप में अभिव्यक्त होती है। जिस अनुभूति में यह अभिव्यक्ति क्षमता नही है, वह वास्तव मे अनुभूति न होकर कोरी

इन्द्रियता या मानसिक जमुहाई मात्र है। वह अनुभूति जो आत्मिक व्यापार का परिणाम है, सौन्दर्य रूप में अभिव्यक्त हुए विना रह ही नहीं सकती। उसे काव्य-स्वरूप ग्रहण करना ही पड़ेगा। क्रोचे के मत में अनुभूति अभिव्यक्ति ही है और अभिव्यक्ति ही काव्य है। यह तीनों अन्वर्थ या समानार्थी शब्द है, इनमे परस्पर पूर्ण तादात्म्य है।

यदि क्रोचे के इस निर्देश को हम स्वीकार कर ले, तो पहले प्रश्न का उत्तर भी हमे आप ही आप मिल जाता है। वह प्रश्न अनुभूति की समरूपता या समरसता का है। क्रोचे के निरूपण के अनुसार अनुभूति का समरस या समरूप होना अनिवार्य है। एक ही अखंड अनुभूति समस्त कवियों और रचनाकारो मे होती है। काव्यमात्र मे उसकी अखंडता स्वयंसिद्ध है। समस्त कवि एक हैं, उनमे परस्पर भेद नहीं। अनुभूतिशील मानवता ही सर्वत्र और सब काल मे एक है। काव्य और कला की अजस्र धारा देश और काल का भेद नही जानती। भेद वास्तविक नही है, उसका यथार्थ रूप हमे समझना होगा।

काव्यगत अनुभूति के संबंध में यह क्रोचे की स्थापना है। भारतीय विचार भी इससे भिन्न नही है। अभी मैने विभाव, अनुभाव आदि रस के प्रमुख उपादानो मे भावना या अनुभूति की व्याप्ति का उल्लेख किया है। काव्य के आस्वादन के निमित्त 'सहृदय' की योग्यता बताकर और शब्दो पर उलझनेवाले न्यायशास्त्रियो तथा वैयाकरणों को काष्ठ-कुड्म की उपमा देकर हमारे विनोदप्रिय पूर्वजो ने काव्यगत अनुभूति की विशेषता सिद्ध की थी। उन्होने काव्य के विविध प्रकारो, शैलियो और पद्धतियो के बीच कोई ऐसी विभेदक रेखा नही खीची है जिससे उसके सर्वसामान्य स्वरूप पर किसी प्रकार का व्याघात या विक्षेप आए। समस्त काव्य-शैलियो और काव्य-स्वरूपो में अनुभूति की अखंड एकरूपता का अनवरत प्रवाह दिखाकर भारतीयो ने काव्य की सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता सिद्ध की थी।

आत्माभिव्यंजक रचना से कभी-कभी उन कृतियो का अर्थ लिया जाता है जिसमें रचनाकार की व्यक्तिगत अनुभूति अधिक प्रत्यक्ष होकर आती है। परंतु इसी कारण दूसरी रचनाओ को अनुभूति-रहित नही कहा जा सकता। कुछ समीक्षकों ने 'सब्जेक्टिव' (व्यक्तिगत) और 'आब्जेक्टिव (वस्तुगत) काव्य के दो भेद कर आत्मानुभूति की प्रधानता 'सब्जेक्टिव' काव्य में मानी है, परन्तु इस भेद को हम वास्तविक नही कह सकते। यह तो केवल प्रकार-भेद है। 'व्यक्तिगत अनुभूति' से प्रेरित रचनाएँ कभी-कभी तो वास्तविक अनुभूति के स्तर पर पहुँचती ही नही, अतएव उन्हे तो काव्य की संज्ञा भी नही दी जा सकती। वास्तव मे अनुभूति के व्यक्तिगत और वस्तुगत भेद किए ही नही जा सकते, उसकी तो अखंड सत्ता है। आत्मानुभूति तो काव्यमात्र की विशेषता है। किसी एक प्रकार की रचना को आत्माभिव्यंजक कहकर दूसरी काव्य-रचनाओ को आत्माभिव्यंजना से रहित मानना कोरी भ्रान्ति है।

इसी प्रकार हम कभी किसी रस-विशेष की रचना को दूसरे रसो की रचना से श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं और कभी महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रगीत आदि काव्य-भेदो की निरपेक्ष रूप मे तुलना करने लगते हैं। उदाहरण के लिए, प्राय. शृंगार रस को रसराज घोषित किया जाता है। परंतु इसका यह अर्थ नही कि कोई भी शृंगारिक रचना किसी भी अन्य रस की रचना से स्वत. श्रेष्ठ है। सभी रसो में एक ही अनुभूति-धारा प्रवाहित रहा करती है, अतएव यह भेद कृत्रिम है। महाकाव्य इसलिए महाकाव्य नही है कि उसमे 'काव्य' की सत्ता किसी लघुगीत या प्रगीत की काव्य-सत्ता से प्रकृत्या भिन्न है, दोनों काव्यत्व की भूमि पर समान है। आकार-प्रकार और परिमाण आदि के अन्तर भले ही हो।

किसी प्रचंड बुद्धिवादी समस्या-नाटक मे और किसी अतितरल गीति नाट्य में, सहस्त्रों पृष्ठों के समाहित उपन्यास मे और चार या दस

पंक्तियों के गद्य गीत मे भी अनुभूति की समानता रहती है। इसी समता के वल पर वह समस्या-नाटक भी काव्य है, वह विशाल उपन्यास भी और वह अति-लघु गद्यगीत भी। यदि अनुभूति की सत्ता में अन्तर होता तो इनमें से किसी एक, दो या सव को काव्य की पदवी ही न मिलती। यदि ये सभी काव्य साहित्य के अंग है, तो इनमे अनुभूति की अजस्त्र एकरूपता है ही।

एक ओर सूर, तुलसी और मीरा आदि कवियो मे और दूसरी ओर देव, विहारी और मतिराम आदि रचनाकारो मे क्या अंतर है ? क्या यह कि वे भक्त और सत थे और उनकी रचनाओ से भक्ति और ईश्वर-प्राप्ति की शिक्षा मिली और ये संसारी और दरवारी व्यक्ति थे और इनकी कृतियों से लोक-कल्याण न हो सका ? परन्तु भक्ति और ईश्वर-प्राप्ति के संदेशवाहक सभी तो कवि नही हुए और न सभी संसारी और दरवारी व्यक्तियो ने कलम हाथ मे ली। ऐसी अवस्था मे तुलना की भूमि भक्ति, ईश्वरप्राप्ति या लोक-कल्याण नहीं हो सकता। तुलना का आधार होगा कवित्व या काव्यत्व जिससे ऊपर गिनाई वस्तुओ का कोई सवध नही और जिसका एकमात्र मानदंड है अनुभूति। सम्भव है हम यह कहे कि देव-विहारी आदि मे अनुभूति थी ही नही, वे कवि ही नही थे। यह कहने का हमे अधिकार है, पर इस कारण हम यह कहने के अधिकारी नही हो जाते कि सूर और तुलसी पहुँचे हुए भक्त थे, अतएव वे श्रेष्ठ कवि भी थे। इस प्रकार का तर्क करनेवाले व्यक्ति ही भक्ति को स्वतंत्र काव्य-रस सिद्ध करना चाहते है, पर उनकी यह उपपत्ति सच्चे काव्य-प्रेमियो को मान्य नही हो सकती।

अनुभूति को काव्य का प्रयोजन माननेवालो के सम्मुख यह प्रश्न भी आता है कि अनुभूति के प्रकाशन का माध्यम क्या हो। कभी कागज और कूची की सहायता से, कभी स्वर-ताल-लय के योग से, कभी पत्थर को कांट-छांट कर और कभी शब्दो की अर्थ-व्यंजक शक्ति का आश्रय लेकर

अनुभूति प्रकाशित होती है। इन विभिन्न माध्यमों का उपयोग भिन्न-भिन्न कलाकार अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार करते हैं। इन माध्यमों में कौन अधिक उपयुक्त और कौन कम उपयुक्त होगा, यह तो रचयिता की योग्यता पर अवलंबित है। इस संबंध मे नियम-निर्देश करना संभव नही। परन्तु एक ही माध्यम द्वारा प्रकाशित होनेवाली अनुभूति के संबंध मे यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक अनुभति एक ही उत्कृष्ट अभिव्यक्ति पा सकती है। हम एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द अथवा एक छंद के स्थान पर दूसरा छंद रखकर 'आदर्श' अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। आदर्श अभिव्यक्ति सदैव एक ही होगी।

यदि प्राचीन वन्य कलाकार के सम्मुख आज के समृद्ध साधन नही थे, तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी अनुभूति अपनी 'आदर्श' अभिव्यंजना नही प्राप्त कर सकी। वन्य कलाकार की वही आदर्श अभिव्यंजना है जो उसने अपने मोटे साधनों से की है। महात्मा कबीर के पास शुद्ध परिष्कृत शब्द-राशि नही थी, किन्तु उन्होने जिस किसी प्रकार से अपने भाव व्यक्त किए, वही उनका आदर्श प्रकार है। अनुभूति और अभिव्यक्ति मे ऊपरी सापेक्षता रहते हुए दोनो की अंतरंग अनन्यता में सन्देह नही किया जा सकता।

वह काव्य भी काव्य ही है जिसमे अनुभूति और अभिव्यक्ति की पूर्ण एकरूपता न स्थापित हो पाई हो, जिसमे कवि अपनी अनुभूति के प्रकाशन का उपयुक्त और आदर्श माध्यम प्राप्त करने में असफल रहा हो। पर वह रचना काव्य नहीं है जिसमे वास्तविक अनुभूति का ही अभाव हो। भारतीय समीक्षा के अनुसार ऐसी रचना ध्वन्यात्मक या रसात्मक काव्य के अन्तर्गत नही आती, उसे गुणीभूत व्यंग या चित्र-काव्य मात्र कहते है। अनुभूति की अस्पष्टता अथवा उसका अभाव ही इन दोनो प्रकार की रचनाओ के मूल मे रहा करता है।

अनुभूति का स्वरूप और समस्त काव्य-साहित्य मे उसकी व्यापकता

दिखाने का जो प्रयत्न ऊपर किया गया, उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यानुभूति स्वतः एक अखंड आत्मिक व्यापार है जिसे किसी भी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक या साहित्यिक खंड-व्यापार या वाद से जोडने की कोई आवश्यकता नहीं। समस्त साहित्य मे इस अनुभूति या आत्मिक व्यापार का प्रसार रहता है। काव्य के अनंत भेद हो सकते हैं, उसके निर्माण मे असंख्य सामाजिक या सांस्कृतिक परिस्थितियों का योग हो सकता है, परन्तु उसका काव्यत्व तो उसकी सर्वसंवेद्य अनुभूति-प्रवणता मे ही रहेगा। किसी महा-महिम उपदेशक की रचना भी काव्य-दृष्टि से नि.सार हो सकती है और किसी क्षुद्रतम जीव की चार पंक्तियाँ भी काव्य का अनुपम शृंगार हो सकती है। वर्ग-संघर्ष की भावना किसी युग मे काव्य-प्रेरणा का कारण हो सकती है, परन्तु वह भावना काव्यानुभूति का स्थान नही ले सकती जो काव्य साहित्य की मूल आत्मा है। काव्य का प्रयोजन मनोरजन अथवा सामाजिक वैषम्य से दूर भागना अथवा पलायन भी नहीं हो सकता, क्योकि वैसी अवस्था मे आत्मानुभूति के प्रकाशन का पूरा अवसर रचयिता को नही मिल सकेगा, उसकी रचना अधूरी और अपंग रहेगी। इसी प्रकार स्थूल इन्द्रियता पर आधारित अनभूति भी श्रेष्ठ काव्यत्व मे परिणत नही हो सकती, क्योकि वहाँ आत्मानुभूति के प्रकाशन मे विकारी कारण मौजूद रहेगे। कवि के पूर्ण व्यक्तित्व का उत्सर्जन करनेवाली आत्म-प्रेरणा ही काव्यानुभूति बनकर उस कल्पना-व्यापार का सचालन करती है जिससे काव्य बनता है। काव्य और कला की मुखर वर्णमयता मे समस्त वर्णभेद, वर्गभेद और वादभेद तिरोहित हो जाते हैं। मानव-कल्पना का यह अनुभूति-लोक नित्य और शाश्वत है। चिरंतन विकास की सरिता इसे चिरकाल से सींचती आ रही है और चिरकाल तक सींचती जायगी।

स्वच्छन्दतावाद-छायावाद-रहस्यवाद

आधुनिक काव्य के विवेचन मे तीन प्रमुख शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं। हिन्दी की नवीन कविता को साधारणतः छायावाद कहा गया है किन्तु यह न तो कोई पारिभाषिक-शब्द है और न इसकी कोई परम्परागत व्याख्या ही है। छायावाद नया शब्द है। स्वच्छन्दतावाद और रहस्य-वाद पुराने शब्द हैं। वर्तमान समय में छायावादी काव्य की ऐसी अनेक प्रवृत्तियां मिलती हैं जिनका विवेचन अन्य देशो में स्वच्छन्दतावाद या रहस्यवाद के अन्तर्गत किया गया है। स्वच्छन्दतावाद शब्द रोमान्टिसिज्म का पर्याय है। इस रूप में इसका प्रथम प्रयोग आचार्य शुक्ल ने किया था। उन्होने प्रकृत स्वच्छंदतावाद और छायावाद मे अतर बताया है। स्वच्छन्दतावादी काव्य को वे नैसर्गिक काव्य मानते है, परन्तु छायावादी काव्य मे उन्हे साम्प्रदायिकता का भान होता है। यूरोपीय धार्मिक काव्य मे 'फैंटेंसमाटा' की भाति छायावादी काव्य मे भी वे इसका प्रत्यय पाते है। शुक्ल जी रहस्यवादी काव्य को भी अधिकतर साधनापरक और साम्प्रदायिक बतलाते है। परन्तु हिन्दी के छायावादी काव्य को फैंटेसमाटा की परिधि में ही रख देना न्यायसंगत नही है और महादेवी के रहस्यवादी काव्य को साम्प्रदायिकता की भूमि पर देखना भी उचित नही है। वास्तव मे हिन्दी का छायावादी काव्य स्वच्छन्दतावाद की भूमिका पर ही लिखा गया है और महादेवी की रहस्योन्मुख कविता भी स्वच्छन्दतावाद की व्यापक भूमिका पर ही आंकी जा सकती है। इस प्रकार आधुनिक छायावाद और रह-स्यवादी काव्य रचनाए स्वच्छन्दतावाद की ही विभिन्न शैलियां है। उन्हे स्वच्छन्दतावाद से पृथक करके देखने का प्रयास समीचीन नहीं

कहा जा सकता। यदि हम इन तीनों वादो का अन्तर करना ही चाहे तो कह सकते हैं कि स्वच्छन्दतावाद नवयुग की समग्र प्रेरणाओ का प्रतिनिधित्व करने वाला काव्य-स्वरूप है जिसमे परम्परागत काव्य-धारा और काव्योपकरणो के विरुद्ध विद्रोही उपकरणो की प्रधानता है। नई भाव-सृष्टि और नए अलंकरण हैं, वहिर्मुखता के स्थान पर अतर्मुखी प्रयाण है, प्रकृति का निसर्गजात आकर्षण है, शब्दावली मे नवीन सगीत है। छायावादी काव्य मे भी ये तत्व है। परन्तु जिस एक तत्व की प्रधानता के कारण इसका यह नाम पडा है वह इसकी अतर्निहित आध्यात्मिकता है। समस्त स्वच्छन्दतावादी काव्य मे इस प्रकार का आध्यात्मिक संस्पर्श हो, ऐसा आवश्यक नही है। परन्तु छायावादी काव्य में यह संस्पर्श मूलत: विद्यमान माना जाता है। स्पष्ट है कि इस सीमित परिभाषा मे हिन्दी का समस्त छायावादी काव्य नही आता। परन्तु एक वार नाम पड जाने पर गुणों के न रहते हुए भी नाम की स्थिति वनी रहती है। वही वात छायावादी काव्य के संवंध में भी घटित हुई है। वर्तमान समय मे छायावाद एक रूढ़ शब्द ही कहा जायगा। जहाँ तक रहस्यवाद का सवंध है, कवीर और जायसी आदि का रहस्यवादी काव्य किसी साहित्यिक अर्थ मे स्वच्छन्दतावादी नही है, यद्यपि कुछ प्रवृत्तियां समान हो सकती हैं। परन्तु वर्तमान समय मे हिन्दी का समस्त रहस्यवादी काव्य स्वच्छन्दतावाद के व्यापक परिवेश मे समाहित हो जाता है। स्वभावतः रहस्यवादी काव्य मे प्रतीक-पद्धति अपनाई जाती है और वास्तविक रूपात्मक सृष्टि का सीघा वर्णन नही होता। स्वच्छन्दतावादी काव्य में वाह्य और आभ्यन्तर प्रकृति का वास्तविक और रूपात्मक वर्णन विधेय है। स्वच्छन्दतावादी काव्य इहलौकिक और मानवीय भूमिका का काव्य है जवकि रहस्यवादी काव्य अंतः सत्तात्मक या परोक्ष वस्तु से संवधित काव्य है।

यूरोप मे प्राचीन अथवा क्लासिकल काव्यधारा की प्रतिक्रिया मे जो

नवयुग की काव्यधारा १८वीं० सदी के अंत मे प्रारम्भ हुई उसे रोमांटिसिज्म कहा जाता है। शेक्सपियर। (१६वीं० शती) का काव्य भी इसके अन्तर्गत परिगणित है। लौंजाइनस को प्रथम रोमान्टिक समीक्षक पुकारते है, किन्तु यह प्रयोग शास्त्रीय नही। मात्र कतिपय प्रवृत्तियों को देखकर लोग ऐसा कहते है। वस्तुत: रोमाटिक प्रवृत्ति १८वी शती के अंत से आरम्भ होती है। इसे एक प्रकार से आधुनिक युगका काव्य कहा जा सकता है। इसकी तिथि फ्रास की प्रथम राज्य क्रांति से मानी जाती है। इस तांत्रिक क्रांति ने सामन्तयुगीन व्यवस्था को मिटाकर नवयुग का आरम्भ किया। इस नई कविता को जनतंत्रात्मक कविता भी कहते है। मार्क्सवादी समीक्षको ने इसे ही पूजीवाद के आरम्भ और अभ्युदय काल का काव्य कहा है।

अनेक समीक्षको ने बताया है कि नये काव्य मे वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की भावना निवास करती है। इस पूर्ववर्त्ती काव्य मे जातीयता को महत्त्व दिया जाता था। यह काव्य जाति द्वारा सम्मानित नैतिक आधारों को लेकर चलता था तथा सामूहिक भावनाओ का प्रकाशक था। व्यक्तिगत अनुभूतियो के प्रकाशन का उसमे अधिक अवसर न था। उसकी अन्य विशेषता यह है कि उसके विषय निर्धारित थे। महाकाव्य के लिए कोई प्रख्यात पुरुष नायक होता था, वह राष्ट्रीय और जातीय समस्त गुणो का प्रतीक रूप रहता था। इसे केन्द्र बनाकर उससे सम्बद्ध अन्य पात्र किसी वर्ग विशेष (टाइप) के प्रतिनिधि होते थे। 'रामचरित मानस' मे भरत आदर्श भाई है और हनुमान सेवाभाव के प्रतिनिधि है। व्यवस्थानुरूप समस्त सामाजिक वर्ग महाकाव्य मे प्रतिनिधित्व पाते थे। इस प्रकार नियमानुगत शासन लेकर यह काव्य चलता गया। उसमे जातीय आकांक्षाओ की परितृप्ति होती थी। इस युगका गीत काव्य भी उक्त अनुशासन से मुक्त नही है। सूर और मीरा ने सर्वमान्य आराध्य के प्रति अपनी भावनाएं समर्पित की। अनिर्दिष्ट व्यक्ति या वस्तु रचना का विषय नहीं बना सकता था।

इसके विपरीत स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा जातीय आदर्शों के प्रति अवमानना या उपेक्षा का माप लेकर आई। एक बहुत बड़ी विभाजक रेखा प्राचीन और नवीन के बीच मे बनी। आधुनिक कविता किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करने का दावा नही करती, किसी प्राचीन पुरुष की अपेक्षा नही करती। यह व्यक्ति की स्वतंत्र अनुभूतियो, लालसाओ और संघर्षो को प्रतिबिम्बित करती है। उसमे नियमानुशासन के विरुद्ध विद्रोह की वाणी व्यक्त हुई है।

भाव-पक्ष में इन परिवर्तनों के अतिरिक्त कला-पक्ष मे भी परिवर्तन हुए हैं। प्राचीन काव्य कला की भूमिका पर अनेक नियमो को लेकर चलता था। जैसे, नाटक मे संधियाँ इत्यादि सर्वमान्य थी। प्रवन्ध-काव्य मे भी संकलन-तत्व स्वीकृत थे। वहां सुखान्त दृश्यो के साथ दु खान्त दृश्यो का वर्णन वर्जित था, आंगिक शुचिता का तत्व स्वीकृत था तथा सौन्दर्य प्रतिमान निर्धारित थे। कला-संवधी नवीन उद्भावनाओ के लिए उसमे अधिक अवकाश न था। शेक्सपियर के नाटको मे 'क्लेसिसिज्म या शास्त्रीयता के विरुद्ध सुखान्त और दु.खान्त का मिश्रण होने के कारण प्राचीन ममीक्षको ने उनका विरोध भी किया था।

नए काव्य मे नए जीवन-मूल्यो की प्रतिष्ठा और स्वतंत्र प्रयोग की प्रवृत्ति थी। यह मौलिक स्वतन्त्रता का प्रतिफलन है, जिसके मूल में जनतान्त्रिक भावनाएं है। नवीन काव्य मे नए तथ्यो की मान्यता एव नए नियमों के निर्धारण के लिए प्रयत्न हुआ। छन्दो की भूमिका ने भी नए काव्य मे अनेक परिवर्तन हुए। पहले स्वीकृत छन्द थे, उनके बन्धन से पूर्ण स्वातत्रय की, अराजकता की, कामना व्यक्त की गई। मुक्त छद भी प्रचलित हुए। सक्षेप मे प्राचीन कविता संयमित थी। उसमे असगतिको स्थान था, वह जातीय भावनाओं पर अवलम्बित थी और विद्रोह का स्वर उसमे नही था। नई कविता नियमो के विरुद्ध विद्रोह करती है एवं व्यक्तिगत अनुभूतियों के प्रदर्शन की मांग करती है।

प्राचीन कविता जातीय दर्शनो की अनुगामिनी थी, नई कविता स्वतंत्र दर्शनो को व्यक्त करने का सामर्थ्य रखती है।

प्राचीन काव्य से नए काव्य का कोई सम्बन्ध-सूत्र है ? अथवा सम्वन्ध-विच्छेद की स्थिति आ गई है—इस प्रश्न के विषय मे कहा जाता है कि क्लासिकल कविता भी अपने पूर्ण वैभव के युगो मे ऐसे गुणो को प्रतिपादित करती है जिन्हे आधुनिक कवि मान्यता देते है। अतिरेक पर जाकर नई कविता विशृंखल हो गई है और निरर्थक शव्द जाल में वदल गई है। भावनाएं उसमे धूमिल हो जाती है और कल्पनाएं अस्पष्ट। प्राचीन कविता नियमातिशय से सांचे में ढली हुई और निष्प्राण हो गई थी, कोरी आलंकारिकता तथा वाह्य रूप की ओर चली गई थी। नई कविता अतिवाद की स्थिति मे अत्यन्त व्यक्तिगत अनुभूति के स्तर पर पहुच जाती है। संक्षेप मे, प्राचीन काव्य यदि नियमाधिक्य से ग्रस्त होता गया तो नई कविता नियमशून्य होने का भय उपस्थित करने लगी। अपने उत्कर्ष के युग मे दोनो ही काव्य वहुत समीप रहे। दोनो में समान आह्लाद मिलता है। यहां तक कहा जाता है कि विशुद्ध शास्त्रीय अथवा विशुद्ध स्वच्छन्दतावादी रचना कोई नही। प्राचीन काव्य आभिजात्य, परम्परा, शास्त्र और औदात्य की वस्तु हैं। नया काव्य अन्त सत्व का अन्वेषक है तथा औदात्य को विशिष्ट ढंग से स्पर्श करता है।

शाखा रूप मे विभिन्न काव्य-शैलियां स्वच्छन्दतावादी काव्य मे समाहित हो जाती है। छायावादी काव्य मूलत स्वच्छन्दतावादी है। नई भूमियो को छूने और नई कलात्मकता के लिए प्रयोग का कार्य जिस काव्य मे होता है उसके लिए हिन्दी मे 'छायावाद' नाम निश्चित हुआ। प्रत्येक छायावादी काव्य स्वच्छन्दतावादी काव्य है, पर प्रत्येक स्वच्छ-न्दतावादी काव्य छायावादी काव्य नही।

छायावादी काव्य शैली स्वच्छन्दतावादी काव्य की एक शाखा है। इसकी रूपरेखा मे भेद हैं। आचार्य शुक्ल इसे एक अभिव्यंजना की शैली मात्र कहते है। नवयुग की चेतना के संवाहक नये काव्य का आरम्भ उन्होने स्वीकार नही किया। उसमे उन्हे शैलीकी लाक्षणिकता, उक्ति की वैचित्र्यपूर्ण आलकारिकता ही दिखाई दी। अभिव्यंजना की इस नई शैली को उन्होने 'छायावाद' नाम दिया। किन्तु यहां छायावादी काव्य के केवल रूप-विन्यास पक्ष को ही द्योतित किया गया है, उसके समस्त स्वरूप की व्याख्या नही है। अव्याप्ति के कारण यह परिभाषा लाक्षणिक शैली और वक्रोक्ति से युक्त घनानन्द के काव्य मे भी छायावाद का भ्रम उत्पन्न कर सकती है। वस्तुतः उसे वक्रोक्ति काव्य कहना ही सगत है। शैली के साथ नए काव्य की भाव-दृष्टि का भी आकलन न करने के कारण शुक्ल जी की परिभाषा को एकांगी और अतिशयोक्ति पूर्ण ही कहना होगा।

प्रसाद के अनुसार, छायावादी काव्य उस मोती के सदृश है जो अपने चारो ओर के आभात्मक वातावरण को व्याप्त किए है। छायावादी काव्य को उन्होने मोती के सदृश उज्जवल (वस्तु पक्ष) तथा कला पक्ष को मोती की आभा के समान चमकदार माना है। उपमा पद्धति पर होने के कारण यह परिभाषा दोषपूर्ण है। यह तार्किक पद्धति न होकर काव्यात्मक पद्धति है। वक्रता की ओर दृष्टिपात प्रसाद ने भी किया है। अभिव्यंजना के वैशिष्ट्य की ओर ध्यान देते हुए वे भी शुक्ल जी के समीप ही पहुचते है। महादेवी जी के अनुसार, मानव-संबंधो मे जब तक माधुर्य सत्ता प्रधान नही रहती तब तक आत्म-समर्पण की स्थिति नही आती। तब तक जो काव्य-रचना होगी उसमे पर्याप्त सार्थकता न होगी। कवि अपनी सवेदना मे जब बहुत अधिक वेदना ग्रहण करता है, परस्पर अन्तर को मिटाकर अपने व्यक्तित्व को परम व्यक्तित्व मे समर्पित कर देता है तब इस प्रकार की भावना से बनी कविता छायावादी

है। इस परिभाषा मे छायावाद और रहस्यवाद मे कोई अन्तर प्रदर्शित नही है। किन्तु इसमे नई कविता के वस्तु-विधान और अनुभूति-विधान पर प्रकाश पड़ता है।

वहुत से कवियो और विचारको ने छायावाद-रहस्यवाद मे अन्तर नही माना है। डा० नगेन्द्र ने छायावाद को-'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' कहा है। यह परिभाषा छायावाद-रहस्यवाद-स्वच्छन्दतावाद— सभी पर लागू होगी क्योकि यह नवीन काव्यवस्तु के अन्तःपक्ष से सम्बध रखती है। वह अन्तर्मुखी काव्य मात्र से सबंधित है। कुछ लोगो ने छायावादी काव्य को प्राकृतिक सौन्दर्य-चेतना से सम्बद्ध मानकर कहा है कि उसमें जो अलंकरण है वे प्राकृतिक अलकरण है, पर ऐसा मानने पर अनेक काव्य छायावादी सतह से हट जाते है। छायावाद का मुख्य संवध मानवीय जीवन की अनुभूति से है। इसे केवल प्राकृतिक सौन्दर्य का काव्य मानना ठीक नही। प्रकृति के व्यापक अर्थ मे यह उससे सवं-धित काव्य अवश्य है। वास्तव मे छायावाद व्यष्टि सौन्दर्य वोध की कल्पना है और रहस्यवाद समष्टि सौन्दर्यवोध की कल्पना है। मानव जीवन की इकाईयों तथा प्रकृति के भीतर जो अध्यात्म-तत्व की झलक देखते है वे व्यष्टि सौन्दर्य वोध के ज्ञापक हैं,वे छायावादी हैं। वे प्रकृति की एक-एक इकाई पर दृष्टि रखते हैं। यही सौन्दर्य वोध अधिक उदात्त होकर एक समष्टि सौन्दर्य वोध वन जाता है, एवं अपने अन्दर व्यष्टि सौन्दर्य वोध का विलय कर लेता है। ऐमी भाव-भूमिका रहस्यवादी काव्य की भूमिका है। आध्यात्मिक सौन्दर्य वोध छायावादी कविता का केन्द्रीय उपकरण है। अपनी उदात्त सीमा पर पहुंचकर वह निखिल विश्व को ब्रह्ममय अनुभव करता है। इस स्थिति मे कवि रहस्यवादी है। अन्तर दृष्टिकोण मे है, जहां तक तथ्य का सम्वन्ध है दोनो एक ही तथ्य आध्यात्मिक सौन्दर्य को मानते हैं। अनुभूति का स्वरूप एक है पर अनुभूति की दिशा मे अन्तर है। प्रकृति के सुन्दर अशो का चयन

छाया वादी काव्य मे है, रहस्यवाद मे परस्पर अन्तर भूलकर अखण्ड सौन्दर्य तथा समरस चेतना की सृष्टि होती है।

छायावाद सांसारिक वस्तु सत्ता के भीतर एक दिव्य सौन्दर्य का प्रत्यय है। उसमें अद्वैत तत्व का भास मिल जाता है। काव्य की दृष्टि से छायावाद प्रकृति, मानव-जीवन, प्रेम और सौन्दर्य को अधिक निगूढ रूप से प्रकट करता है। रहस्यवाद मे दिव्य-प्रेम की स्थापना होती है। प्राकृतिक सौन्दर्य एक सार्वजनिक सत्ता है। रहस्यवाद मे उसकी स्वतन्त्रता आध्यात्मिक सौन्दर्य मे मिल जाती है। छायावादी काव्य मे सौन्दर्य और प्रकृति के वर्णन अधिक व्यापक हुए है। रहस्यवाद में ईश्वर और जीवन के संवधो का निदर्शन करते हुए परमात्मा तक पहुँचने का निर्देश किया जाता है। रहस्यवादी काव्य भाव-दृष्टि से अधिक दार्शनिक एव साधनात्मक होता है। छायावादी काव्य-दृष्टि अधिक मानवीय है। प्रकृति को मात्र प्रकृति न मानकर दोनो उस पर अध्यात्म का आरोप करते है। अन्तर यह है कि रहस्यवादी काव्य प्रतीक-पद्धति को लेकर चलता है जवकि छायावाद मे वस्तु अपनी स्वतत्र सत्ता रखती है। रहस्यवादी काव्य मे वस्तु विश्व-ज्योति की प्रतीक बन जाती है। महादेवी की अधिकाश कविताएँ एक प्रतीक-पद्धति पर उद्भावित हुई है।

काव्य-वस्तु के विस्तार और भावनाओ के सहज उन्मेष की दृष्टि से स्वच्छंदतावाद सब मे अधिक व्यापक है। उसमे दार्शनिकता अनिवार्य नही है। उसकी तुलना मे छायावाद और रहस्यवाद अधिकाधिक दार्शनिक है। रहस्यवाद मे विषय-दृष्टि सीमित होने से काव्य-क्षेत्र भी सीमित हो जाता है।

प्रचलित धारणा के अनुसार प्रसाद, निराला, पत और महादेवी छायावादी है। एक काव्य-आन्दोलन के रूप मे यह सत्य है, किन्तु वैचारिक दृष्टिकोण से उनमे अन्तर है।

'निराला' अधिक स्वच्छन्दतावादी हैं। उनके काव्य मे दार्शनिक तत्व है, किन्तु तद्गत सौन्दर्य दार्शनिक तथ्य की छाया नही। 'सन्ध्या-वर्णन', 'यमुना के प्रति' इत्यादि स्वच्छन्द धारा की पोषक कविताएँ ही हैं। दार्शनिक सीमा में आवद्ध न होने के कारण निराला का काव्य अधिक स्वच्छन्द है। 'तुम और मैं' उनकी एक रहस्यवादी रचना है। इसमें ईश्वर से जीव का सम्बन्ध प्रतिपादित है। परिमित वस्तु, और व्यापक वस्तु से अन्तर मे समाहित है। निराला के काव्य में तीन प्रकार के तत्व मिलते हैं—उनमे लौकिक और अलौकिक दर्शन है, कहीं गार्हस्थ-जीवन का वर्णन है और कही सामाजिक विपमताओ का विरोध है। किन्तु आध्यात्मिक दर्शन सिद्धान्त रूप में स्वीकार न करने के कारण वे स्वच्छन्दतावादी है।

'पन्त' को छायावादी कवि कह सकते हैं। वे प्रकृति-प्रेमी है—उसमे अध्यात्म सत्ता का अनुभव करते हैं, तथा प्रेम और सौन्दर्य के अनुगायक हैं। संसार को वे एक नई चेतना से सम्पन्न देखने की चेष्टा करते है। उन्होंने यद्यपि अनेक भावभूमियो को स्थान दिया है—कहीं मार्क्सवादी, कही अरविन्दवादी—किन्तु छायावाद उनकी मुख्य भूमिका है। छायावादी सासारिक, लौकिक और वस्तु-जगत को प्राथमिक महत्व नही देता, कल्पना-जगत मे वह अधिक विहार करता है। उसमे अध्यात्म के तत्व मौजूद रहते है। 'पंत' के 'ज्योत्स्ना' नाटक मे प्रतीक रूप में स्वर्गीय ज्योत्स्ना का पृथ्वी पर अवतरण दिखाया गया है। यह छायावादी दर्शन की भूमिका पर ही है। 'पल्लव' या 'गुजन' में ऐसा ही दर्शन है। पिछली रचनाओं मे अरविन्द-दर्शन का प्रभाव है। आध्यात्मिक दर्शन होने के कारण वे विशुद्ध छायावादी कवि हैं।

महादेवी का काव्य रहस्यवादी है। शैली उनकी छायावादी है, पर भाव-भूमि नही। उनके लिए सांसारिक परिस्थितियाँ एक ही तत्व का विस्तार है, जहाँ सुख-दुख का भेद मिट जाता है। संसार की सुन्दर

वस्तुएँ अलौकिक सौन्दर्य की झाँकियाँ—यह रहस्यवादी प्रवृत्ति उनमे है। उनके काव्य का मेरुदण्ड है—'किसी प्रेमी के प्रति आत्म-समर्पण की भावना।' संयोग, मान, खीझ, रीझ, उपालम्भ, आग्रह की भाव-स्थितियाँ उसके प्रति व्यक्त की गई है। प्रिय और प्रियतमा चूंकि यहाँ परमात्मा और आत्मसत्ता के प्रतीक बन जाते है अतएव उनका काव्य रहस्यवादी है।

प्रसाद के काव्य मे आरम्भ से एक जिज्ञासा और नियतिवाद का तत्व रहा है। तरुण वय की रचनाओं मे रहस्योन्मुखता मिल जाती है। 'आंसू' काव्य मे आकर प्रसाद प्रेमाख्यान के माध्यम से रहस्यवादी स्वरो को झकृत करने लगते है। यद्यपि वह प्रेम लौकिक है तथापि उसके वर्णन मे प्रसाद सासारिक सुख-दुख की भूमिका को लांघ जाते है, और जहां तक उसकी दार्शनिक भूमि का संबंध है वह रहस्यवादी है।

मानव-जीवन-वेदी पर।
परिणय हो विरह-मिलन का।
सुख-दुख दोनो नाचेंगे।
है खेल आँख का, मन का।

'आसू' काव्य की गति लौकिक से अलौकिक की ओर है। जहां तक वस्तु-वर्णन है वह एक वियोग काव्य है, स्वच्छन्दतावादी काव्य है, जहा काव्य की परिणति होती है, वहां रहस्यवादी दर्शन का पूरा-पूरा प्रत्यय है।

'कामायनी' का दर्शन वाद की श्रेणी मे नही आता। महाकाव्य जीवन की महान् आकांक्षाओ और युग के प्रतिनिधि होते हैं। वाद के दायरे मे उन्हे खीचना अन्याय है। 'कामायनी' की भाव-धारा और शैली स्वच्छन्दतावादी है तथा शास्त्रीय शैली से भिन्न है। इसका नायक आधुनिक युग का प्रतिनिधि है, उसमे शक्तियां, दुर्बलताएं, अतृप्ति,

संघर्ष' सब कुछ है। अतः शास्त्रीय महाकाव्य के नायक से वह भिन्न है। 'कामायनी' स्वच्छन्द धारा के नव्यतम काव्यो मे प्रतिनिधि रूप है। उसका दार्शनिक आधा शैव-दर्शन है। अन्तिम सर्ग मे सांसारिक भेद-प्रभेदो का आवरण हटाकर समरसता और आनन्द की भूमिका अपनाई गई है। मनुष्य सृष्टि का चरम पुण्य है। देखने मे जो संघर्ष है वह मानो आनन्द तत्व को प्राप्त करने की भूमिका है। 'कामायनी' का शैव दर्शन रहस्यवादी दर्शन है।

'पन्त' को छोडकर शेष का जीवन-दर्शन रहस्यवादी है। पन्त का जीवन दर्शन सौन्दर्यवादी है। वस्तु-चित्रण के क्षेत्र मे वे स्वच्छन्दतावादी हैं। निराला भाव-भूमि की दृष्टि से स्वच्छन्दतावादी है। दर्शन उनके काव्य मे प्रमुख रूप से नही है। भाव-पक्ष को ही उन्होने प्राथमिकता दी।

अंग्रेज़ी साहित्य में 'रोमांटिसिज्म' स्वच्छन्दतावाद और 'मिस्टिसिज़्म' रहस्यवाद ये दो शब्द प्रचलित है। विशिष्ट काव्य-आन्दोलन को 'स्वच्छन्दतावाद' संज्ञा दी गई है। यह 'स्वच्छन्दतावाद' एक सीमा पर पहुचकर रहस्यवाद' के समीप आ जाता है। भावना की भूमिका जो स्वच्छन्दतावाद मे मिलती है वही आगे चलकर दर्शन की भूमिका मे रहस्यवाद मे परिणत हो जाती है। स्वच्छन्दतावाद मे कवि के व्यक्तिगत वैशिट्य का बहुत बड़ा स्थान रहता है। इसी का परिणाम है कि एक व्यापक काव्य-आन्दोलन के प्रमुख लक्षणो से युक्त होकर भी प्रत्येक स्वच्छन्दतावादी कवि अपने समानधर्मा अन्य कवियों से भिन्न भी होता है। स्वच्छन्दतावाद का परिचय देने के लिए इसीलिए केवल सिद्धान्त अथवा कतिपय प्रवृत्तियो का उल्लेख कर देना पर्याप्त नही होता। यह भी आवश्यक होता है, कि प्रमुख स्वच्छन्दतावादी कवियो की विशिष्टताओ का आकलन किया जाय। इंग्लैण्ड में वर्ड्सवर्थ,शेली, कीट्स और विलियम-ब्लेक प्रमुख स्वच्छन्दता-

वादी कवि हुए। हिन्दी मे भी प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी का चतुष्ट्य हमे प्राप्त होता है। कहने की बात नही कि दोनो समूहों के कवियो मे पर्याप्त अन्तर है। किन्तु आकस्मिक सयोग की बात है कि उनमे कुछ साम्य भी है। यदि संक्षेप मे कहा जाय तो प्रसाद और वर्ड्सवर्थ मानवतावादी है, निराला और शेली क्रान्तिप्रिय है, पंत और कीट्स सौन्दर्यवादी है तथा महादेवी और विलियम ब्लेक रहस्यवादी है।

वर्ड्सवर्थ सबसे अधिक व्यापक भूमिका का कवि था। प्रसाद जी भी सबसे अधिक व्यापक भूमिका के कवि कहे जाते है। वर्ड्सवर्थ की कविता बडी भावात्मक और आकर्षक है, पर कही-कही उसमे शिथिलता आ गई है। किसी अश तक प्रसाद मे भी यह बात है। इस शताब्दी के द्वितीय दशक की उनकी रचनाओ को पढने से पता चलता है कि उनमे भी यत्र-तत्र शैथिल्य आ गया है। वर्ड्सवर्थ दैनिक बोलचाल की भाषा को ही काव्य के उपयुक्त मानते थे। किन्तु प्रसाद ने परिष्कृत और अभिजात भाषा का प्रयोग किया। वर्ड्सवर्थ ने जन-सामान्य के दैनिक अनुभवो को काव्य विषय के योग्य माना। प्राचीनता के विरोध मे यह उनका अतिवाद था। प्रसाद प्राचीन काव्य-शैली के प्रति विशेष आकर्षण रखते हैं। वे प्रेरणा संस्कृत कवियो से लेते रहे, न कि अग्रेजी कवियो से। परवर्ती रचनाओ मे प्रसाद की काव्य-धारा मे शिथिलता के सूचक अश स्वल्प हैं। उनकी समस्त सर्जना भारतीय परिवेश के भीतर ही है। पश्चिम की अनुकृति का भाव उनमे कही नही है।

वर्ड्सवर्थ का मानवतावादी काव्य था। उन्होने गरीब अमीर के भाव के प्रति विमनस्कता प्रकट की है, साथ ही नैतिक आधार भी माना है। वे प्रकृति के कवि है। प्रकृति के प्रति विशेष भाव होने के कारण उन्हे 'प्रकृति का उच्च-पुरोहित' Nature's highpriest भी कहा गया है। नगर को छोड़ कर प्रकृति के परिवेश मे उन्होने अपना आवास बनाया। प्रकृति मे वे इतने तल्लीन हो गए हैं कि उनके काव्य मे एक

प्रकार के प्राकृतिक रहस्यवाद की झलक मिलने लगती है। प्रसाद मूलतः मानवीय भावों के कवि है। मनुष्य मे वर्गगत या अन्य किसी भेद को न मानकर उसकी गहन एकता का ही उन्होने अनुगान किया है। उनके 'लहर' काव्य मे स्वतन्त्र कविता का प्रवाह है।'कानन कुसुम' और'झरना' मे आलकारिक रूप मे प्रकृति प्रेम प्रस्फुटित हुआ है। स्वतः प्रकृति के प्रति कोई भाव विशेष उसमे नहीं। एक रहस्यमयी जिज्ञासा मौजूद है, किन्तु वह गंभीर जीवन धारणा की भूमि पर नही पहुँचती। 'लहर'में भाव गम्भीर हो गया है। सन्ध्या,वर्षा आदि का वर्णन करते हुए उच्च भावना भूमि तक वे पहुँचते हैं किन्तु फिर भी प्रसाद प्रकृति के कवि नही, प्रेम के कवि हैं। वर्ड्सवथ का काव्य प्रकृति मे व्याप्त आत्मा के दर्शन और अनुभूति से ओत-प्रोत है। अनेक वार उनका प्रकृति-चित्रण वास्तव में इस आध्यात्मिक भूमिका का निरूपण है। समरसता के आश्रय से प्रसाद के काव्य मे भी प्रकृति इस प्रकार आध्यात्मिक चेतना से सम्पन्न होकर व्यक्त हुई है। परंतु 'आंसू', 'कामायनी', 'लहर' प्रेम काव्य ही कहे जाएँगे। प्रसाद जी 'आसू' मे वैयक्तिक प्रेम से आरम्भ करके दार्शनिक प्रेम पर पहुंच गए हैं। दर्शन उनकी सवेदनाओ को अधिक गहराई और व्याप्ति प्रदान करता है। फलत.प्रेम का उदात्तीकरण इस काव्य में परिलक्षित होता है। उनकी तीसरे प्रकार की कविताएं दर्शन पर आधारित हैं। उनमें रहस्योन्मुखी दर्शन है। कुछ कविताएं राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भावना पर लिखी गई है-जैसे शेरसिह का शस्त्र समर्पण। अत.प्रसाद जी एक उदात्त भाव के कवि हैं, चाहे वे प्रेम के क्षेत्र मे हों अथवा दर्शन के क्षेत्र मे। कोरा स्वच्छन्दतावाद, कोरा विद्रोह का तत्व उनमे नही है।

प्रसाद के काव्य मे नियतिवाद भी है। यह नियतिवाद उनके व्यक्तिगत जीवन की घटनाओ से सम्बद्ध है। सिद्धान्तत. वे नियतिवादी नही है। उसका अर्थ होता है अपने पर विश्वास खो देना। प्रसाद यह स्वीकार करते थे कि मानव व्यापारो मे नियति का हाथ है, किन्तु उसके

रहते हुए भी कही यह संकेत नही कि मनुष्य अपने कार्यों से विरक्त हो जाय। शुक्ल जी ने प्रसाद को 'मधुचर्या का कवि' कहा है। प्रेम का जो इन्द्रिय सम्वेदनशील स्वरूप है, उसके कारण यह विशेषण उन्हें मिला है। प्रसाद के काव्य मे यत्र तत्र यह पक्ष मिलता है। वे अनेक वार बुद्धिवाद के तत्वो की उपेक्षा भी करते है, क्योकि वे आनन्दवादी कवि थे। आनन्दवाद एक भावना-मूलक और दार्शनिक पक्ष है और बुद्धिवाद विचारमूलक पक्ष हैं। फिर भी उनको मधुचर्या का कवि कहना कहाँ तक ठीक होगा ? इन्द्रिय-संवेदना को स्थान देते हुए भी प्रसाद वहाँ ठहर नही गए, वह उनका भावनात्मक स्थल अवश्य है, किन्तु उनकी परिणति वहाँ नही होती। वह परिणति समरसता के तत्वदर्शन मे होती है।

प्रसाद के रहस्यवाद की तुलना मे वर्ड्सवर्थ का मानवतावाद रखा जा सकता है—मनुष्य का उत्कर्ष प्रसाद जी ने कहा है कि इस जगत की सृष्टि आनन्द से है। उसका लक्ष्य भी आनन्द ही है। मनुष्य जब तकअपने सुख दुख के प्रति समदर्शी नही हो जाता, तव तक आनन्द की उपलब्धि नही हो सकती। प्रसाद का रहस्यवाद मानवीय एकता को सामने रखता है। लौकिक एकता की अपेक्षा साधना के स्तर पर मनुष्य की समानता हो सकती है। समानता का यह धरातल मनुष्य की न्यूनतम भूमिका का नही, उसके उच्चतम विकास का है। इसमे भी मानवतावाद है, परन्तु यह मानवतावाद दार्शनिक है।

वर्ड्सवर्थ के सिद्धान्त और काव्य में चिन्तन का पक्ष प्रवल था। चितन ने उनके काव्य को गम्भीरता प्रदान की। चिन्तन प्रधान रचनाओ मे एकदम रम जाना सम्भव नहीं, अत. वे क्लिष्ट रचनाएँ हैं। चिन्तन अनेक वार काव्यधर्मा न रहकर उपदेशात्मक वन गया है। रचना कव चिन्तन होकर भी कविता बनती है तथा दूसरी ओर सन्देश देने का भी काम करती है ? वास्तव मे वह रूप निर्माण करने की, मूर्तिमत्ता की,

क्षमता है। उसके अभाव मे कोरा संदेश काव्य नही वन सकता। चिन्तक कवि ही एक सीमा पर पहुँचकर सन्देशवाहक वन जाता है। वर्ड्सवर्थ के काव्य मे सदेश देने का कार्य जीवन चित्रण के माध्यम से हुआ है। प्रसाद जी का काव्य भी चिन्तन प्रधान काव्य है। उसमे वह वस्तु है, जिसे दार्शनिक या सांस्कृतिक स्तर कहते हैं।

शेली के सबंध मे जहाँ तक वायवीय भावना का प्रश्न है, वे पंत के समीप है, और जहाँ विकसित काव्य का पक्ष है, वे निराला के समीप है। निराला मे विद्रोह की वाणी है। शेली भी विद्रोह के कवि हैं। आदर्श-मूलक समाजवादी क्रांति के दर्शन का आश्रय लेकर शेली ने अपनी रचनाएँ की हैं। उनकी कविता 'रिवोल्ट' या क्रान्तिकारी भाव की व्यंजना करती है। उसमे एक तेजस्विनी प्रतीकात्मकता है। निराला के 'बादल राग' की भी यह विशेषता है। शेली के 'प्रोमेथ्यूज, अनवाउन्ड' मे स्वातन्त्र्य की भावना की तीक्ष्ण अभिव्यक्ति है। उसमें गंभीरता का प्रयत्न भी है। उनके द्वारा स्वीकृत दर्शन एक समसामयिक प्रगतिशील दर्शन है। कला पक्ष मे उन्हे चमत्कार की सृष्टि करने वाला माना गया है, साथ ही रंगो की उत्कृष्ट योजना उनके काव्य मे पाई जाती है। उनकी शैली मे दो स्तर हैं—अलकृत शैली और सरल शैली। निराला भी वृहत् सामाजिक परिवर्तन की माग करने वाले कवि है। उन्हे प्रेरित करने वाला दर्शन वेदान्त है, जो विवेकानन्द का स्पर्श पाकर प्रजातंत्र और समाजवाद की भावनाओ से भी युक्त हुआ था। सृष्टि की एकता के आधार पर उन्होने अनेक कविताओ की रचना की है। अलकृति और चमत्कार के प्रति उनकी भी अभिरुचि है। लम्बे-लम्बे वाक्यो और समासो की अलकृत शैली के साथ प्रसाद गुण से युक्त सरल शैली का प्रयोग भी निराला जी ने किया है। आलंकारिक और सरल रीतियो के अतिरिक्त एक और शैली निराला के काव्य मे प्रयुक्त है। उसे हम विनोदात्मक शैली कह सकते है। इसमें उन्होंने विभिन्न भाषा के शब्दो का योग चमत्कार, और विनोद की सृष्टि के लिए किया है।

शैली और निराला मे थोड़ा अन्तर भी है। निराला का झुकाव महा-काव्यत्व की ओर है। भव्यता और औदात्य के प्रति उनकी सहज उन्मुखता है। उनमे पौरुष गुण की प्रधानता है। शैली की रचना में यद्यपि विद्रोह की वाणी है तथापि पौरुष उदात्त भूमिका पर न जाकर दु.खान्त (Tragedy) के निकट पहुँच गया है। निराला का काव्य उदात्त कोटि का है। अत वह महाकाव्य की धारा के समीप है।

कीट्स मे सौन्दर्य तत्व की प्रधानता है। वे सौन्दर्य को सत्य मानते है—जो सत्य है, वही सुन्दर है, जो सुन्दर है वही सत्य है। इसी प्रकार की धारणा पन्त जी की भी है। पन्त जी प्रकृति के कवि है। काव्य मे सौन्दर्य का तत्व, सृष्टि के प्रति सौन्दर्य- भावना का आरोप, यह पन्त-काव्य की मूलभूत विशेषता है। कीट्स भी इस ससार की भावनाओं से मुक्त था, इसलिए उसकी भाषा मे सौन्दर्य निखर आया है। कीट्स को कर्कश शब्दो का प्रयोग पसन्द नही था। अतः छांटकर वैसे शब्द उसने निकाल दिए और अंग्रेजी भाषा का परिष्कार किया। ग्रीक सस्कृति और कलादर्शो के प्रति उनमे भावनात्मक आग्रह था, इसलिए उन्हे क्लासिकल प्रवृत्ति का कवि भी कहा गया है। तुलना मे पन्त की भाषा सबसे अधिक असाधारणता के स्तर पर है। 'है' क्रिया का प्रयोग तो उन्होने किया ही नही। 'पल्लव' की भूमिका से स्पष्ट है कि पन्त जी भाषा-मार्जन के कवि है। इस मार्जन के अनुसार कोमलता लाने के लिये लिंग के प्रयोग मे भी उन्होंने स्वतत्रता बरती है। भाषा की अपनी सत्ता है, किन्तु पन्त जी उन नियमो की भी उपेक्षा करने को तैयार है। उनकी भाषा-परिष्कार की योजना इसके प्रति उत्तरदायी है। कीट्स को पलायनवादी कवि भी कहा गया है। कटुता से ऊबकर उसने दूसरे लोक की कल्पना की है। अतः उसके काव्य मे सामान्यताएँ नही हैं, आदर्श-जगत के रूप ही मिलते हैं। पन्त जी ने जहाँ कहीं भी कल्पना की है, वहाँ नई दुनियां,

यथार्थवाद : प्रगतिवाद

यो तो साहित्य मे अत्यन्त प्राचीन काल से यथार्थ वस्तु का वर्णन होता आया है, परन्तु यथार्थवाद शब्द आधुनिक है और इसका प्रयोग नये युग मे ही होने लगा है। वाद के रूप मे यथार्थ का पहला प्रवेश पश्चिमी देशो में हुआ था, जबकि विज्ञान के विकास के साथ वस्तुमुखी अनुसधान की प्रक्रिया आरंभ हुई थी। वैज्ञानिक विकास के पहले साहित्य मे प्रायः नैतिक और धार्मिक आदर्शों का प्राधान्य था और उन्ही के अनुशासन मे साहित्य की सृष्टि होती थी। यथार्थवाद को समझने के लिए साहित्य के दो अन्य वादो को समझना आवश्यक है, जिन्हे हम क्रमश. आदर्शवाद और स्वच्छदतावाद कहते है। साहित्य मे आदर्शवादी दृष्टि वह है जिसमे आत्मतत्व और उससे सबधित नैतिक तत्व को सर्वोपरि माना गया है। यूरोप मे इस वाद के अतिम व्याख्याता हीगेल और फिक्टे आदि माने गये है, जिन्होने साहित्य के सौन्दर्य को आत्म-तत्व से समन्वित माना है। साहित्यिक रचनाओ मे आदर्शवादी कृतियाँ वे मानी जाती हैं, जिनमे जीवन के उदात्त पक्षो का निरूपण होता है। परन्तु ऐतिहासिक क्रम से यह आदर्शवाद रूढियो मे बँधकर जीवन-निरपेक्ष हो जाता है, और केवल बाह्य नियमो तक सीमित रहकर रूपवाद या रीतिवाद मे परिणत होता है। इसी रीति या परम्परावाद के विरोध मे स्वच्छंदतावाद का साहित्यिक आन्दोलन १८ वीं शताब्दी के अतिम भाग मे आरंभ हुआ, जिसके उन्नायक फ्रास में रूसो और इग्लैड मे वर्ड्सवर्थ, शेली आदि माने गये है। नई औद्योगिक सभ्यता के विकास के साथ-साथ सामतवादी अनैतिकता के विरोध मे स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ साहित्य मे आई थी। प्रचलित सामाजिक

व्यवस्था के प्रति विद्रोहात्मक होने के कारण इसे स्वच्छतावाद कहा गया था। क्रमशः इस साहित्यिक आन्दोलन में भी कमजोर पक्षो का प्रवेश होने लगा। काल्पनिकता बढने लगी। वस्तुपक्ष क्षीण होने लगा और कला के लिये कला की भूमिका ग्रहण की जाने लगी। स्वच्छंदतावाद का दार्शनिक पक्ष सौन्दर्यवादी है और एक सीमा तक व्यक्तिवादी भी है। इसमें आदर्शवादी साहित्यधारा की नैतिकता और बाह्य सामजस्य के तत्वो का विरोध किया गया था और एक आतरिक संतुलन लाने की चेष्टा की गई थी। इस प्रकार आदर्शवाद और स्वच्छन्दतावाद की साहित्यिक धाराएँ दार्शनिक भूमिका पर बहुत कुछ समान होती हुई भी रचना के क्षेत्र मे बहुत बड़ा अन्तर लिये हुए है।

स्वच्छन्दतावाद की कल्पनाप्रवणता के विरोध मे यथार्थवादी साहित्यिक सृष्टियाँ आरंभ हुई थी। १९ वी शताब्दी के आरंभ से विज्ञान की उन्नति के साथ यह साहित्यिक आन्दोलन गतिशील हुआ था। इसकी दार्शनिक पीठिका वैज्ञानिक थी। डारविन ने मानव-विकास सबधी अपने अनुसंधानों के द्वारा मनुष्य को पशु और वनस्पति-जगत की प्राणिसत्ता के समीप पहुँचा दिया था। डारविन का यह निरूपण आदर्शवादियो के लिये एक बडी चुनौती सिद्ध हुआ। इस वैज्ञानिक सत्य की स्वीकृति ही यथार्थवाद की मूल विशेषता है। जिन विचारको को हम यथार्थवादी कहते है, वे सभी विज्ञान-सम्मत तथ्यो को स्वीकार करते है, वैज्ञानिक पद्धति को अपनाते है और प्रयोगात्मक पक्ष को प्रधानता देते हैं। यथार्थवाद संबंधी वैचारिक या दार्शनिक भूमिका को प्रस्तुत करने वाला पहला लेखक सेन्ट साइमन माना जाता है, जिसने साहसपूर्वक आधुनिक विज्ञान के साथ, क्रिश्चियन त्यागोन्मुख आदर्शों को जोड़ने की कोशिश भी की थी। औद्योगिक सभ्यता के विकासक्रम मे पूँजी की वृद्धि के साथ निर्धनता की भी वृद्धि हुई थी। समाज का एक बड़ा वर्ग साधनहीन और जीविकाहीन हो गया था। सेंट सायमन ने १९ वी शताब्दी के आरंभ के साहित्यिकों और कलाकारों से यह अपेक्षा

की कि एक ओर वे विज्ञान-सम्मत सामाजिक और मानवीय यथार्थ का चित्रण करेंगे, और दूसरी ओर वे मजदूरो और दुखी जनो के कष्ट-निवारण का प्रयत्न भी करेंगे। इस प्रकार हम यह देखते है कि यह आरंभिक यथार्थवाद आदर्शवाद की भूमिका को छोड नही सका है।

आगे चलकर आगस्टी काम्टे ने इस नये आन्दोलन को पुष्ट दार्शनिक आधार दिया। विज्ञान के सत्य को ही सत्य मानकर उन्होने उसके साथ ही एक अन्य तत्व का भी उद्घोप किया जिसे क्रिया-तत्व की संज्ञा दी। इस प्रकार सत्य और क्रिया के योग से एक गतिशील दर्शन का आविर्भाव किया, जिसमें वैज्ञानिकता के साथ-साथ सामाजिक जीवन के नैतिक पक्षो पर ध्यान दिया गया था। इसे हम साहित्य मे यथार्थवाद का प्रथम चरण कह सकते है।

१९ वी शताब्दी के मध्यभाग मे फ्रासीसी समीक्षक टेन ने यथार्थवाद का अगला कदम उठाया। उसका निर्देश यह था कि जिस प्रकार कोई वनस्पति अपने परिवेश के अनुसार जलवायु और भूमि की उर्वरता के अनुपात में विकसित होती और फलती-फूलती है, उसी प्रकार कलाकृति भी देश, काल और परिवेश की सीमाओं से बँधी हुई है और उन सीमाओ का अतिक्रमण नही कर सकती। टेन ने इस बात पर विचार नही किया कि कला की मूल प्रकृति क्या है? वह अपने मे कैसी वस्तु है? वह केवल इतना ही बता सका कि उसके निर्माण मे प्राकृतिक परिवेश का क्या हाथ रहता है।

इस प्रकृतिवादी यथार्थवाद का आधार लेकर जोला और फ्लोवेअर जैसे प्रसिद्ध साहित्यिको की कृतियाँ प्रस्तुत हुईं। जोला एक निर्मम नियतिवादी की भाँति मनुष्य-चरित्र को प्राकृतिक शक्तियो से अनुशासित बतलाता है। उसके चरित्रो मे मनुष्य के महान सकल्प और आस्थाएँ नही आ सकी हैं, क्योकि वह मनुष्य की आत्मिक स्वतन्त्रता पर विश्वास नही करता था। यह नियतिवाद एक निराशा की भी सृष्टि करता है

और मानव प्राणी को वहुत कुछ पंगु रूप मे देखता है। फ्लोबेग्रर के उपन्यासो मे भी प्राय: ऐसी ही दृष्टि है, परन्तु उसका मानव-स्वभाव का निरीक्षण अधिक गहन था और साथ ही यथार्थवाद की वह पद्धति भी वड़ी समुन्नत थी, जिसमे प्रकृति के यथातथ्य स्वरूपों का बारीकी से चित्रण किया गया है। इस प्रकार फ्लोबेग्रर ने शैली की भूमिका पर भी यथातथ्य चित्रण की नई पद्धति का विकास किया।

इस प्रकृतिवादी यथार्थवाद के पश्चात् सामाजिक यथार्थ के अधिक व्यापक कलाकारो का युग आता है। उपन्यास के क्षेत्र मे वेल्जाक एक ऐसा लेखक है, जिसने अपने युग के सामाजिक अन्यायो पर कड़ी टिप्पणियाँ की। उसे अपने समय मे सामाजिक यथार्थवाद का प्रमुख लेखक कहा गया है। परन्तु यह सामाजिक यथार्थवाद किसी गतिशील दर्शन पर आधारित न था, अतएव वेल्जाक के उपन्यासो मे व्यग्य और विडम्बना अधिक है और निर्माणात्मक जीवन-चेतना की बहुत कुछ कमी है। यथार्थवादी साहित्य-सृष्टि मे एक गतिशील जीवन-प्रक्रिया की योजना का प्रथम आभास रूस के वेलेन्सकी नामक लेखक मे मिलता है। वेलेन्सकी मूलत: आदर्शवादी हीगेलियन दर्शन का अनुयायी था। परन्तु उसे अपने देश की सामाजिक हीनताओ का वडा गहरा बोध हो चुका था। अतएव उसने अपने देश के राष्ट्रीय जीवन के उन्नयन के लिए गतिशील यथार्थवाद के लक्ष्य को अपनाया। आगे चलकर मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धात के आधार पर रूस तथा अन्य देशो में एक आस्थापूर्ण सघर्षात्मक साहित्य की सृष्टि होने लगी, जिसके प्रधान पुरस्कर्त्ताओं मे मैक्सिम गोर्की का नाम लिया जाता है। इस यथार्थवाद के अन्तर्गत यद्यपि वर्ग-सघर्ष का तत्व प्रधान है और आर्थिक भूमिका पर ही सामाजिक विकास का सिद्धात स्वीकार किया गया है जिसमे सहमत होना आवश्यक नही है, पर द्वंद्वात्मक भूमि पर एक स्वस्थ दृष्टि-सम्पन्न साहित्य का निर्माण अवश्य हुआ, जिसके कारण यथार्थवाद को एक नई प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

हिन्दी साहित्य मे हम सबसे पहले प्रेमचन्द को आदर्शवाद और यथार्थवाद के संधिस्थल पर पाते है। कुछ समीक्षक प्रेमचन्द को यथार्थवादी कहते है। प्रेमचन्द का साहित्य रस्किन या टाल्स्टाय के समान आदर्शवादी ही कहा जायगा। प्रेमचन्द मे न तो यथार्थवाद की विज्ञान-संमत भूमिका मिलती है, न मनुष्य को प्रकृति का अनुचर या सहचर मानने की प्रवृत्ति है, न उनकी दृष्टि बुद्धिवादी या भौतिक ही है। प्रेमचन्द आर्य समाज और गांधी जी के आदर्शो से प्रभावित एक सुधारवादी और मानवतावादी लेखक ही कहे जा सकते है।

प्रेमचन्द के समसामयिक साहित्यिको मे अधिकाश आदर्शवादी और स्वच्छदतावादी आधारो पर ही साहित्य रचना करते रहे हैं। सन् १६२० से १६४० ई० तक हिन्दी मे छायावादी युग चलता रहा है जो स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का ही युग है। काव्य के क्षेत्र मे तो अधिकांश लेखक स्वच्छंदतावादी थे ही, उपन्यास नाटक तथा अन्य साहित्यिक सरणियो पर चलने वाले लेखक भी स्वच्छन्द भाव-धारा के ही पोषक रहे है। प्रसाद, निराला, वृन्दावनलाल, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट आदि प्रमुख गद्य लेखको मे स्वच्छन्दतावादी साहित्य-प्रवृत्तिया ही मिलती है।

प्रसाद के कंकाल उपन्यास मे एक नई प्रवृत्ति अवश्य दिखाई देती है, जिसे प्रकृतिवादी प्रवृत्ति भी कहा जा सकता है। इसके सभी चरित्र वर्णसकर है और अधिकतर काम-वृत्तियो मे लिप्त है। यद्यपि प्रसाद जी ने इस उपन्यास मे एक आदर्शवादी पात्र भी रक्खा है, जिसे उपन्यास के सभी पात्र सम्मान की दृष्टि से देखते है और जिसके आदेश से उपन्यास के अत मे 'भारत सघ' जैसी आदर्शवादी सस्था का निर्माण भी होता है, पर कंकाल मे लेखक का मुख्य झुकाव पात्रो की प्रवृत्तिमूलकता की ओर ही है-सभी इन्द्रिय-वृत्तियो का परितोष ही चाहते हैं।

ककाल के भी कुछ पूर्व उग्र के उपन्यास और कहानिया प्रकाशित हुई थी, जिनमे सामाजिक कुरूपताओं का चित्रण वहुत कुछ नग्न रूप

मे किया गया था। उग्र के इन चित्रणो में व्यंग्य की मात्रा और शक्ति पर्याप्त समुन्नत नही है अन्यथा उग्र की गणना युग के प्रमुख यथार्थवादी लेखकों मे की जाती। वे अक्सर कुरूपता को आत्मसमर्पण कर देते हैं, जिसमे उनके लेखन मे प्रहारक शक्ति कम हो गई है, उनके व्यंग्य की धार गोठिल हो गई है।

यथातथ्यमूलक प्रकृतिवादी शैली के एक अन्य लेखक उपेन्द्रनाथ अश्क है, जिनके उपन्यासो मे चित्रण की बहुत बडी वस्तुपरकता पाई जाती है। सामाजिक व्यग्य और हास्य के सशक्त अस्त्र भी उनके पास है, पर उनके सम्पूर्ण साहित्य मे गतिशील आधार की कमी है। नियतिवादिता का तत्व उनके उपन्यासो मे सर्वत्र मौजूद है।

यथार्थवाद की गतिशील सामाजिक चेतना का आधार लेकर हिन्दी के औपन्यासिक क्षेत्र मे यशपाल, राहुल, रांगेय राघव जैसे लेखक कार्य कर रहे हैं। यशपाल का लेखन एक बडे पैमाने का है, परन्तु वह अनेक बार अनुभव की भूमिका छोड़कर सिद्धांत की भूमिका पर पहुँच जाते है और अध्ययन मे गतिरोध उत्पन्न करते है। उनमे अनेकश. नग्न चित्रणों के अनाकाक्षित विक्षेप भी आते रहते हैं। फिर भी यशपाल प्रगतिशील यथार्थवाद के एक अच्छे लेखक कहे जा सकते है।

पिछले कुछ वर्षो से हिन्दी साहित्य मे आंचलिक उपन्यासो की एक नई धारा प्रवर्तित हुई है। इसके दो प्रमुख लेखक नागार्जुन और रेणु हैं। यह धारा भी मूलत: यथार्थवादी है। ग्रामीण अशिक्षित समाज के दैनिक जीवन से सबधित होने के कारण इनमे प्रकृतिवादी तत्व भी पाये जाते है। नागार्जुन मे सैद्धान्तिक पक्ष का आग्रह अधिक है। रेणु अपेक्षाकृत तटस्थ और वस्तुमुखी हैं। उनके चित्रणो और वर्णनो को गतिशील फोटोग्राफी का प्रतिरूप बताया गया है। रेणु के लेखन मे अन्तर्निहित व्यंग्य और विनोद का गहरा पुट रहता है। आचलिक

उपन्यास की सीमित भूमिका मे रहकर भी रेणु यथार्थवादी कला के अच्छे प्रतिनिधि कहे जा सकते है ।

साहित्य मे यथार्थवाद के जितने भी रूप हैं, सबके मूल मे वौद्धिक और वैज्ञानिक दृष्टि की प्रधानता है । वर्तमान समय मे यथार्थवाद का कार्य प्रत्येक प्रकार के कल्पनावाद, रहस्यवाद या आत्मवाद का प्रतिकार करना है । फ्रास मे पारनीसियन वर्ग की कविता वहाँ की रहस्योन्मुख प्रतीकवादी कविता के विरोध मे प्रस्तुत की गई थी । पश्चिम मे अति-यथार्थवादी शैली की रचनाएँ यद्यपि यथार्थवाद शब्द को अपने साथ लेकर चली है, परन्तु यथार्थवादी उस कविता को अपने खेमे के वाहर मानते हैं । इसी प्रकार फ्रायड और यूंग आदि की अतश्चेतनावादी पद्धति पर लिखा गया साहित्य भी यद्यपि वैज्ञानिकता का दावा करता है, पर वह भी यथार्थवाद मे स्वीकृत नही हैं । अतएव यथार्थवाद के लिए वैज्ञानिक होने की ही एकमात्र शर्त नही है, उसके लिए वौद्धिक और वाह्यार्थवादी भूमिकाएँ भी आवश्यक है । सक्षेप मे हम कह सकते है कि आधुनिक साहित्य के वे सारे भेद जो वैज्ञानिक, वौद्धिक और वाह्य जगत के तथ्यो से समन्वित हैं तथा जिनमे रहस्य, कल्पना और अन्तर्मुखता का योग नही है, यथार्थवाद के अंग कहे जा सकते है । यो तो साहित्यसृष्टि मे कोरा यथार्थ या कोरी कल्पना अथवा कोरा आदर्श कही नही रहता । भाव-जगत से सवधित होने के कारण, उसमे जीवन की मिली-जुली अनुभूतिया रहती ही हैं । परन्तु किसी एक पक्ष की प्रधानता होने के कारण साहित्य में किसी वाद का आधार लेकर उसी के अनुरूप नामकरण कर दिया जाता है । यथार्थवाद की भी यही स्थिति है ।

इस वक्तव्य मे हमने यथार्थवाद के उन रूपो पर ही ध्यान दिया है, जो उपन्यास-साहित्य मे विकसित हुए हैं । यूरोपीय साहित्य का विवेचन इसलिए आवश्यक था कि यह वाद और इससे संवंधित विचार धारा

सर्वप्रथम वहीं के साहित्य मे परिलक्षित हुई थी। हिन्दी साहित्य की यथार्थवादी प्रवृत्तिया अधिकतर उपन्यासो मे ही स्पष्ट रीति से व्यक्त हुई हैं। इसका यह आशय नही कि साहित्य की अन्य धाराओ में यथार्थवादी कला का उन्मेप हुआ ही नहीं। युग की विचार धारा और कला-शैली साहित्य के किसी एक माध्यम से नही, अनेकानेक माध्यमो से प्रतिफलित होती है। परन्तु इतना फिर भी कहा जा सकता है कि यथार्थवाद की अधिकांश शैलियां और स्वरूप जितने आधुनिक उपन्यास साहित्य मे दिखाई देते हैं, उतने अन्य साहित्य-रूपो मे नहीं।

प्रगतिवाद

युग-चेतना के अनुरूप, हिन्दी के नए समीक्षको की प्रगतिशील समीक्षा-दृष्टि अपने अस्तित्व और अपनी उपयोगिता का परिचय दे ही रही थी, इतने में 'फैसिस्टवाद के खतरे' का नारा लगाती हुई एक नई साहित्यिक योजना सीधे लंदन से भारत आई। सन् ३५ मे यह योजना निर्मित हुई, सन् ३६ की ईस्टर की छुट्टियो मे लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर इस योजना के अनुसार 'प्रगतिशील लेखक संघ' की बैठक हुई। इसके सभापति प्रेमचंद जी थे। शीघ्र ही यह एक अखिल भारतीय योजना के रूप मे प्रचारित की गई।

इसके मतव्य-पत्र को देखने से ज्ञात होता है कि यह एक सामयिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए-फैसिस्टवाद के विरुद्ध आवाज़ उठाने के लिए—उत्पन्न हुई थी। पर धीरे-धीरे यह एक स्थायी संस्था के रूप मे परिणत होने लगी। रवीन्द्रनाथ और शरच्चंद्र जैसे साहित्यिको का आशीर्वाद लेकर इसने अपना देशव्यापी विज्ञापन किया। इन पंक्तियो का लेखक भी इस संस्था की काशी-शाखा के अध्यक्ष रूप मे इससे कई वर्षो तक सम्बद्ध रहा। परन्तु तब तक इसमे किसी मतवाद की कठोरता नही आई थी। कुछ समय बाद यह अधिक सम्प्रदाय-बद्ध होने लगी। आज

इस पर मार्क्सवादी जीवन-दर्शन और मार्क्सवादी विचार-पद्धति का पूरा आधिपत्य है।

यहाँ बिना किसी प्रकार का अन्यथा आरोप किए हम प्रगतिवाद और उसकी विचार शैली पर एक सामान्य दृष्टिपात करना चाहते है। सबसे पहले हम देखते है कि यह एक विदेशी विचार शैली है जिसका हमारे देश की जलवायु में पोषण नही हुआ। यह परम्परा-रहित है और एक राजनीतिक मतवाद का अंग बनकर आई है। विदेशो मे भी इसकी कोई पुरानी बुनियाद नही है। किसी भी साहित्यिक समीक्षा-शैली का किसी भी दार्शनिक या राजनीतिक मतवाद के शिकजे मे बध जाना साहित्य के लिए शुभ लक्षण नही।

हिन्दी मे इस समीक्षा-शैली का व्यावहारिक स्वरूप और भी विचित्र है। किस नवागंतुक प्रतिभा को यह सहसा आसमान पर चढा देगी और कब उसे जमीन पर ला पटकेगी, इसका कुछ भी निश्चय नहीं। किन्ही दो समीक्षको मे किसी एक प्रश्न पर मतैक्य दिखाई देना असभव-सा ही है। मार्क्सवादी मतवाद जिस परिश्रमसाध्य सामाजिक तथ्यानुशीलन पर अवलंबित है, उसका नए समीक्षक बहुत कम अभ्यास करते हैं। एक बड़ी त्रुटि यह भी है कि वे रचित साहित्य के साथ सामाजिक वस्तुस्थिति का योग नही देखते, बल्कि एक स्वरचित वस्तुस्थिति के आधार पर साहित्यिक रचना की परीक्षा करते हैं।

आए दिन इनकी समीक्षाओ मे टीटोवाद, टाटस्कीवाद, 'मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट-स्टालिनिस्ट-पद्धति' आदि शब्दावलियो का बहुलता से प्रयोग हो रहा है, जिससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि ये साहित्य मे राजनीति ही नही, तात्कालिक और दैनिक राजनीति तथा कार्यक्रम का भी नियमन करना चाहते है। इन्ही कार्यक्रमो का अनुसरण करने और न करने मे ही ये साहित्य की प्रगतिशीलता और अप्रगतिशीलता उसके उत्कर्ष-अपकर्ष-का निपटारा करते रहते हैं। यह स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति मे

कोई वड़ी प्रतिभा पनप नही सकती और यह भी स्वाभाविक है कि प्रगतिशीलता का सेहरा सिर पर रखने के लिए कुछ लोग वने-वनाए 'सरकारी नुस्खो' का आंख मूद कर सेवन करते रहे ।

सैद्धान्तिक दृष्टि से हमारी आपत्ति यह है कि यह समीक्षा-शैली किसी साहित्यिक परम्परा का अनुसरण नही करती और न किसी साहित्यिक परम्परा का निर्माण ही कर रही है । यह जीवन के वास्तविक अनुभवो और सम्पर्कों की अपेक्षा पढ़े-पढ़ाए मतवाद को अधिक प्रोत्साहन देती है । इसकी सीमा मे साहित्य के जो समाजशास्त्रीय विवेचन होते है, वे आवश्यकता से वहुत अधिक समाजशास्त्रीय है और आवश्यकता से वहुत कम साहित्यिक । इस कारण मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति साहित्य के भावात्मक और कलात्मक मूल्यो का निरूपण करने मे सदैव पश्चात्पद रही है ।

यह समीक्षा-पद्धति कवि की समस्त मानवीय चेतना का आकलन न कर केवल उसकी राजनीतिक चेतना का आकलन करती है । इसी कारण इसके निर्णय प्राय. अधूरे या एकांगी होते है । केवल राजनीतिक धरातल पर किसी भी कवि की कविता नही परखी जा सकती, महान् कवियो की रचना तो और भी नही । फिर किसी काव्य की प्रेरणा के रूप में कौन-सी वास्तविकता काम कर रही है और उसपर कवि की प्रतिक्रिया किस प्रकार हुई है, ये प्रश्न केवल समाजशास्त्रीय आधार पर हल नही किए जा सकते । युग की परिस्थितिया अनेक वैषम्यो को लिए रहती हैं, युग की प्रगति कोई सीधी रेखा नही हुआ करती । उन समस्त वैषम्यो के वीच कवि की चेतना और उसकी प्रवृत्तियो को समझना केवल किसी राजनीतिक या सामाजिक मतवाद के सहारे संभव नहीं ।

यदि हमने किसी प्रकार कवि या रचयिता की प्रेरक परिस्थितियो और वास्तविकता के प्रति उसकी प्रतिक्रिया को पूरी तरह समझ भी लिया, तो क्या इतना समझना ही साहित्य-समीक्षा के लिए सव कुछ

है ? यह तो कवि या काव्य की भूमिका-मात्र हुई जो काव्य-समीक्षा का आवश्यक अंग होते हुए भी, सब कुछ नही है । वास्तविक काव्य-समीक्षा यही से आरंभ होती है, यद्यपि राजनीतिक मतवादी उसे यही समाप्त समझते है । उनकी दृष्टि मे रचयिता की राजनीतिक और सामाजिक प्रगतिशीलता को समझ लेना ही साहित्य-समीक्षा का प्रमुख उद्देश्य है, जो कुछ शेप रह जाता है वह केवल काव्य का विधान-पक्ष या 'टेकनीक' है। किन्तु यह धारणा भ्रान्त है और समीक्षको के साहित्यिक परम्परा के प्रति उपेक्षा और अज्ञान की परिचायक है । कदाचित् इसी भ्रान्ति के कारण हिन्दी का 'मार्क्सवादी साहित्य' इतना अनगढ और प्रभावहीन होता है ।

किसी तत्वज्ञान मे और वास्तविक कला मे अन्तर होता है । हमने युग की प्रगतिशील वस्तुस्थिति की एक बौद्धिक या विश्लेषणात्मक धारणा बना ली, इतने से ही कवि और रचनाकार का उद्देश्य पूरा नहीं होता । उसके मार्ग मे ये मोटी धारणाए और यह बौद्धिकता बाधक भी हो सकती है । उसे तो अपनी प्रेरणा जीवन की उर्वर भूमियो से स्वत. प्राप्त करनी होगी, किसी अपर माध्यम से नही । माध्यमो द्वारा वह रूखा-सूखा 'ज्ञान' प्राप्त कर सकता है, सरस और मर्मपूर्ण अनुभूतिया नही । ऐसा व्यक्ति किसी पत्र-पत्रिका के लिए कोई लेख लिख सकता है, किसी मार्मिक जीवन-चित्र या काव्य की रचना नही कर सकता । हिन्दी का अधिकाश 'प्रगतिशील साहित्य' कदाचित् इसीलिए प्रचारात्मक निबधो के रूप मे पाया जाता है ।

और अंत में हम यह भी कहना चाहेगे कि हमारे ऊपर कोई नया दर्शन या नई चिन्तन-प्रणाली भी नही लादी जा सकती । यह समझना निरी भ्रान्ति है कि मार्क्स-दर्शन या मार्क्सीय विचार-पद्धति हमे जीवन की कोई अनुपम दृष्टि देती है और सत्य का सीधा साक्षात्कार कराती है। भारतीय तत्वचिन्तन और विचार-विधियो को अपसारित कर

उनके स्थान पर इस नई पद्धति को प्रतिष्ठित करना, भारतीय जन-गण की सांस्कृतिक परम्परा का अपमान करना भी है। इसी जनगण की स्वस्थ चेतना और नैसर्गिक बुद्धिमत्ता का इजहार करते जो नही थकते वे ही यह विदेशी लवादा भारतीय जनता पर लादना चाहते हैं। जिस प्रकार क्रिश्चियन धर्म की प्रलोभनकारिणी चादर हमे अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दियो मे भेंट की जा रही थी, उसी प्रकार यह मार्क्सवाद लवादा इस बीसवी शताब्दी मे लादा जा रहा है। जिस प्रकार भारतीय जनता अपने उस परवश युग मे भी उस चादर के मोह मे नही पड़ी उसी प्रकार यह नया लवादा भी उसके बीच खपाया न जा सकेगा।

कदाचित् हम इस नए दार्शनिक खतरे को ठीक तरह से समझ नही पाए है। यह भी दर्शन या विज्ञान के नाम पर एक धर्म ही है जो हमारी जनता को भेंट किया जा रहा है। विशेषता यह है कि इस बार गुप्त या प्रच्छन्न रूप से यह हमारे सामने लाया गया है। सवाल यह है कि हम इसे स्वीकार करेंगे या नही। सबसे पहले हमें यह भ्रम दूर कर देना चाहिए कि यह दर्शन ही एकमात्र प्रगतिशीलता का पर्याय है और इसके बिना हम जहा के तहां रह जायेंगे। राष्ट्र और जातिया किसी मतवाद के बल पर बडी नही होती, वे बडी होती हैं अपनी आन्तरिक चेतना, सहानुभूति और प्रयत्नो के बल पर। क्रिश्चियन धर्म भी हमे सभ्य बनाने का ही लक्ष्य लेकर आया था और मार्क्स-दर्शन भी हमे समुन्नत और प्रगतिशील बनाने का उद्देश्य लेकर चला है। परंतु जिस प्रकार हम क्रिश्चियन धर्म के बिना भी धार्मिक और सभ्य बने रहे, उसी प्रकार मार्क्स दर्शन के बिना भी दार्शनिक और प्रगतिशील बने रह सकते हैं-यदि हम अपनी प्रगतिशील परम्परा को पहचान सके और अपनी दार्शनिक और सांस्कृतिक विरासत के प्रति ईमानदार रह सकें। ऐसा न होने पर एक छिछली और क्षणिक प्रगतिशीलता ही हमारे हाथ लगेगी!

जहां तक इस नयी समीक्षा-पद्धति और साहित्यिक चेतना का प्रश्न है, हमे यह स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही कि साहित्य के सामाजिक लक्ष्यो और उद्देश्यो का विज्ञापन करने वाली यह पद्धति साहित्य का वहुत कुछ उपकार भी कर सकी है। इसने हमारे युवको को एक नई तेजस्विता प्रदान की है और एक नया आत्मवल भी दिया है। पर यह किस मूल्य पर हमे प्राप्त हुआ है ? सवसे पहले इस नई पद्धति ने हमारी नई शिक्षित संतति को एक विशेष समाज-दर्शन और जीवन दर्शन का अनुचर वना दिया है। इसके वाद ही उसने हमारी दृष्टि एक तात्कालिक सामाजिक समस्या पर केन्द्रित कर दी है। हम एक छोटी किन्तु मजवूत रस्सी से वाँधकर उक्त सामाजिक समस्या की खूंटी में जकड दिए गए है और अब हम किसी दूसरी ओर सिर उठाकर देख भी नही सकते। यही परवशता है जो हमें विदेशी शासन से स्वतंत्र होते ही प्राप्त हुई है। आज हमारे साहित्यिक मान-दड इसी खूटी से बंधे होने के कारण अतिशय सीमित और संकीर्ण हो उठे हैं। हमारा सारा विचार-स्वातन्त्र्य खो गया है और हममे वडे और व्यापक विचारो को ग्रहण करने की क्षमता नही रह गई है। विचारो का एक 'सरकारी महकमा' खुल गया है, जिसकी ओर सवकी टकटकी लगी रहती है।

आश्चर्य तो यह है कि हम विना इतनी परवशताएँ उठाए भी अपना और अपने साहित्य का कल्याण कर सकते थे—और कर ही रहे थे। हम रवीन्द्र और शरच्चद्र, प्रेमचन्द और प्रसाद की साहित्यिक परम्परा पर सिर उठाकर और माथा नवाकर चल रहे थे और चले जा सकते थे। परन्तु हम ने, न जाने क्यो, वह रास्ता पसद नही किया और दौड पड़े एक दूसरी ही पगडडी की ओर। आज हिन्दी साहित्य के इस प्रगतिवादी सम्प्रदाय मे जो कलह और कशमकश चल रहा है, उसका मुख्य कारण एक पतली लीक मे वहुत से आदमियो का आकर रास्ता पाने की चेष्टा करना है।

करती है। हिन्दी की प्रौढ़ काव्यधारा से नये प्रयोगियो की रचना इतनी भिन्न हो गई है कि दोनो मे किसी प्रकार का तारतम्य देख पाना भी कठिन हो गया है। कदाचित् यही कारण है कि इस प्रकार की कविता हिन्दी के सामान्य पाठक के काम की नही रही। उसका क्षेत्र एक विशेष तबके तक सीमित हो गया है। यदि नवीनता के नाम पर प्रतिदिन सीमित और संकीर्ण क्षेत्र की वस्तु बन जाना ही नई कविता की गति-विधि है तो यह संपूर्ण हिन्दी-जगत के लिए विचार करने की बात है। हम इस नई शैली की रचना को नई कविता के छद्म नाम से नही पुकार सकते, क्योकि हिन्दी की नई कविता इस छोटे घेरे मे घिरी हुई नही है। साथ ही हमे इस छद्म नाम वाली नई कविता की सम्पूर्ण परीक्षा करनी होगी ताकि उसकी असलियत का उचित ज्ञान हो सके।

हमे यह देखकर कम आश्चर्य नही होता कि नई कविता के हिमायती छन्द के विरोधी हैं और लय के पक्षपाती। जिन नये कवियो की कोई रचना किसी छन्द को अपनाकर चलती है, उनके प्रति नये सम्प्रदाय के कर्णधार सशक रहते हैं और अवसर आते ही उन्हे चेतावनी देते है। चेतावनी मिलने के साथ ही कवि ने छन्दो का रास्ता न छोड़ा तो उसे सम्प्रदाय से बाहर किये जाने का खतरा उठाना पड़ता है। यदि हम पिछले कुछ वर्षो मे प्रकाशित होने वाली प्रयोगवादी समीक्षाओं को पढे तो देखेंगे कि प्रयोगवादी कविता के लिए छन्दो का वर्जन एक आवश्यक तथ्य बन गया है। छन्द के स्थान पर लय की चर्चा प्रयोगवादी विचारक अवश्य करते है, परन्तु छन्द का बहिष्कार करके लय की उपयोगिता बताना एक विचित्र अन्तर्विरोध का परिणाम है। काव्य के लिए छन्द के बहिष्कार की ऐसी पाबन्दी कविता के इतिहास मे शायद ही कभी लगी हो। जिन कवियो के कानो को छन्दो का संगीत वर्जित है वे लय की संगति कहाँ तक समझ और पा सकेंगे! यही कारण है कि काव्य में लय की अथक चर्चा करने वाले अज्ञेय जैसे रचनाकार भी हिन्दी-

काव्य के संगीतात्मक और लयात्मक पक्ष से अनवगत ही रह गए है। साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'भारतीय कविता, १९५३' नामक सद्यःप्रकाशित पुस्तक मे उनकी एक कविता का कुछ अंश इस प्रकार है—

यह दीप अकेला स्नेह भरा,
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पक्ति को दे दो।

....

यह प्रकृति, स्वयंभू, ब्रह्म अयुत
इसको भी शक्ति को दे दो।

....

जिज्ञासु प्रबुद्ध सदा श्रद्धामय,
इसको भक्ति को दे दो।

हिन्दी का साधारण पाठक भी इन पंक्तियो की लयहीनता विना प्रयत्न के ही वता सकेगा, परख की आवश्यकता भी न होगी।

पूछा जा सकता है कि नई कविता के ये पुरस्कर्त्ता काव्य के सहज संगीत और लय की पहचान क्यो नही रखते? उत्तर यह है कि ये काव्याभ्यासी अपनी विलक्षण मनोवृत्ति और मान्यता के जाल में फँसकर कविता के इस सर्वसम्मत अंग से वंचित हो गए है। इन लेखकों ने हिन्दी-काव्य की अपनी लय-पद्धति का भी उचित अनुशीलन नही किया है और प्रायः अंग्रेजी कविता के लय-संस्कारों को हिन्दी मे अवतरित कर रहे है। कहने की आवश्यकता नही कि पश्चिमी संगीत और भारतीय सगीत, पश्चिमी काव्य और भारतीय काव्य मे जितना और जो कुछ स्वाभाविक अन्तर है हिन्दी और अंग्रेजी भाषा की लय-पद्धतियो में भी उतनी ही भिन्नता है। इस प्रकार की कविता की अनगढ़ लयों का एक तीसरा और कदाचित् मूल कारण यह है कि नये रचनाकार

हमे रवीन्द्र और प्रसाद, शरच्चंद्र और प्रेमचंद की साहित्यिक परपरा को और शुक्ल-शैली की समीक्षा को नवीन परिस्थितियो के अनुरूप आगे बढ़ाना है। हम किसी भी नए मतवाद या ज्ञान-द्वार की अवहेलना नही करते, परन्तु किसी को आँख मूँदकर मुक्ति-मार्ग मान लेने के भी पक्षपाती नही है। निश्चय ही हमारी यह प्रतिक्रिया हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत चलनेवाले प्रगतिवादी आन्दोलन के प्रति है। रचनात्मक क्षेत्र मे प्रसाद, निराला, प्रेमचन्द अथवा पत की तुलना के साहित्यिक की हम आज भी प्रतीक्षा ही कर रहे है। जो प्रतिभाएँ और व्यक्तित्व स्वाभाविक रूप से इनके पश्चात् आए, वे भी कदाचित् प्रगतिवाद के अतिशय बौद्धिक प्रभावो और समीक्षा की असंतुलित गतिविधियो के कारण दिग्भ्रान्त हो गए है।

हम यह नही कहते कि हमारा साहित्य पिछले वर्षों मे आगे नही बढ़ा, पर हमारा अनुमान है कि उसे जितना आगे बढ़ना चाहिये था, उतना नही बढा। हम यह भी नही कहते कि प्रगतिवादी समीक्षा ने हिन्दी को कुछ दिया ही नही। उसने दो वस्तुएँ मुख्य रूप से दी हैं। प्रथम यह कि काव्य-साहित्य का संबंध सामाजिक वास्तविकता से है, और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है। द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना ही दूर होगा, वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के सौष्ठव संबंधी एक नई मापरेखा और एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमे दिया है, जिसका उचित उपयोग हम करेंगे।

प्रयोगवाद : प्रतीकवाद

हिन्दी की नई कविता वर्तमान समय मे एक विशेप शैली या प्रकार तक सीमित है । हिन्दी के अधिकाश प्रौढ और गण्यमान्य कवि अब भी भिन्न प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे है, जिनकी अपनी गरिमा और महत्व है । यह कहना भी अनुचित न होगा कि हमारी नई कविता का प्रतिनिधि और प्रांजल रूप वही है, जो उन प्रौढ कवियो द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है । न तो मात्रा मे और न वैशिष्ट्य मे इन प्रशस्त रचनाओ की समता नये प्रयोगों और अभ्यासों द्वारा की जा रही है । एक विशेप तवके के कवि एक विशेष लहजे की रचनाएँ तैयार कर रहे हैं और इसे ही वे नई कविता का नाम देने लगे है । इस नई सृष्टि में भाव या विचार अथवा शैली और शिल्प की दृष्टि से ऐसी विशिष्टता नही लाई जा सकी है कि हम उसे हिन्दी-कविता के विकास का आगामी चरण कह सके । इस प्रकार की रचना भविष्य के प्रति कोई वडी आशा भी नही बँधाती । ऐसी स्थिति में हिन्दी-कविता की स्वस्थ और प्राजल परम्परा को छोडकर इस अटपटी शैली की रचना को नई कविता का नाम देना समीचीन नही कहा जा सकता ।

हिन्दी से भिन्न अन्य भारतीय भाषाओ मे जो काव्य-रचनाएँ हो रही हैं, उन्हे देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन भाषाओ के नये कवि नई भावभूमियो का स्पर्श कर रहे हैं । उनकी काव्य-शैली आवश्यक नवीनता भी अपने साथ लाई है । परन्तु हिन्दी की भाँति अन्य भाषाओ मे क्रमागत काव्य-पद्धति से इतना वडा विलगाव नही दिखाई देता । उनका काव्य क्रमागत काव्य को नया विस्तार और नई प्राण-शक्ति देता है, किन्तु हिन्दी की यह नई रचना अपने नयेपन में एक अचम्भा उत्पन्न

करती हैं। हिन्दी की प्रौढ़ काव्यधारा से नये प्रयोगियो की रचना इतनी भिन्न हो गई हैं कि दोनो मे किसी प्रकार का तारतम्य देख पाना भी कठिन हो गया है। कदाचित् यही कारण है कि इस प्रकार की कविता हिन्दी के सामान्य पाठक के काम की नही रही। उसका क्षेत्र एक विशेष तवके तक सीमित हो गया है। यदि नवीनता के नाम पर प्रतिदिन सीमित और संकीर्ण क्षेत्र की वस्तु वन जाना ही नई कविता की गति-विधि है तो यह संपूर्ण हिन्दी-जगत के लिए विचार करने की वात है। हम इस नई शैली की रचना को नई कविता के छद्म नाम से नही पुकार सकते, क्योकि हिन्दी की नई कविता इस छोटे घेरे मे घिरी हुई नही है। साथ ही हमे इस छद्म नाम वाली नई कविता की सम्पूर्ण परीक्षा करनी होगी ताकि उसकी असलियत का उचित ज्ञान हो सके।

हमे यह देखकर कम आश्चर्य नही होता कि नई कविता के हिमायती छन्द के विरोधी हैं और लय के पक्षपाती। जिन नये कवियो की कोई रचना किसी छन्द को अपनाकर चलती है, उनके प्रति नये सम्प्रदाय के कर्णधार सशंक रहते हैं और अवसर आते ही उन्हे चेतावनी देते है। चेतावनी मिलने के साथ ही कवि ने छन्दो का रास्ता न छोड़ा तो उसे सम्प्रदाय से वाहर किये जाने का खतरा उठाना पड़ता है। यदि हम पिछले कुछ वर्षो मे प्रकाशित होने वाली प्रयोगवादी समीक्षाओ को पढे तो देखेंगे कि प्रयोगवादी कविता के लिए छन्दो का वर्जन एक आवश्यक तथ्य वन गया है। छन्द के स्थान पर लय की चर्चा प्रयोगवादी विचारक अवश्य करते हैं, परन्तु छन्द का वहिष्कार करके लय की उपयोगिता वताना एक विचित्र अन्तर्विरोध का परिणाम है। काव्य के लिए छन्द के वहिष्कार की ऐसी पावन्दी कविता के इतिहास मे शायद ही कभी लगी हो। जिन कवियो के कानो को छन्दो का संगीत वर्जित है वे लय की सगति कहाँ तक समझ और पा सकेंगे। यही कारण है कि काव्य मे लय की अथक चर्चा करने वाले अज्ञेय जैसे रचनाकार भी हिन्दी-

काव्य के संगीतात्मक और लयात्मक पक्ष से अनवगत ही रह गए है। साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'भारतीय कविता, १९५३' नामक सद्यःप्रकाशित पुस्तक मे उनकी एक कविता का कुछ अंश इस प्रकार हैं—

यह दीप अकेला स्नेह भरा,
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

....

यह प्रकृति, स्वयंभू, ब्रह्म अयुत
इसको भी शक्ति को दे दो।

....

जिज्ञासु प्रबुद्ध सदा श्रद्धामय,
इसको भक्ति को दे दो।

हिन्दी का साधारण पाठक भी इन पंक्तिओ की लयहीनता विना प्रयत्न के ही बता सकेगा, परख की आवश्यकता भी न होगी।

पूछा जा सकता है कि नई कविता के ये पुरस्कर्त्ता काव्य के सहज सगीत और लय की पहचान क्यो नही रखते ? उत्तर यह है कि ये काव्याभ्यासी अपनी विलक्षण मनोवृत्ति और मान्यता के जाल मे फँसकर कविता के इस सर्वसम्मत अग से वंचित हो गए है। इन लेखकों ने हिन्दी-काव्य की अपनी लय-पद्धति का भी उचित अनुशीलन नही किया है और प्राय: अंग्रेजी कविता के लय-संस्कारो को हिन्दी मे अवतरित कर रहे हैं। कहने की आवश्यकता नही कि पश्चिमी संगीत और भारतीय सगीत, पश्चिमी काव्य और भारतीय काव्य मे जितना और जो कुछ स्वाभाविक अन्तर है हिन्दी और अंग्रेजी भाषा की लय-पद्धतियों में भी उतनी ही भिन्नता है। इस प्रकार की कविता की अनगढ लयो का एक तीसरा और कदाचित् मूल कारण यह है कि नये रचनाकार

काव्य की सहज और अन्तरंग प्रेरणाओ से संचालित नही है। वे अधिकांश मे श्रमसाध्य और गढ़े हुए कवि है जिन्होंने कवि-कर्म का वाना ग्रहण किया है।

जब से इस नये प्रकार की कविता का प्रारम्भ हुआ, तव से इस शैली के कवि स्वयं समीक्षक वन गए है और अपनी कविता का मर्म आप ही वतलाया करते है। स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि इन कविताओ का मर्म और मूल्य प्रकट करने के लिए इन कवियो को अपना ही सहारा रह गया है, कदाचित् अन्यो को इन सृष्टियो से कोई रुचि या सरोकार नही रहा। यह न केवल चिन्ता की बात है, शंका और भय की भी वस्तु है। वह भी क्या काव्य है जिसका पारायण और आस्वादन करने के लिए हर घड़ी व्याख्याओ की आवश्यकता पड़े! और व्याख्याता भी वही जो स्वयं रचयिता है! हिन्दी-पाठको का विशाल समाज क्या इस स्थिति से सन्तुष्ट या प्रकृतिस्थ हो सकता है? समस्या यह है कि हम कविता को अधिक महत्व दे, या उसकी व्याख्या को? किसी युग के काव्य के लिए क्या यह कम दुर्भाग्य की वात है कि बिना विस्तृत व्याख्याओं और वक्तव्यों के उसका पारायण ही न किया जा सके। नई कविता के इस परावलम्वन का अर्थ यही है कि यह प्रकृत धारा से टूटकर अलग हो गई है, सहज भावगम्यता का आदर्श खो वैठी है और अपनी भाव-सम्पत्ति को बौद्धिक आवरणों से आच्छादित का दुरूह वन गई है।

कुछ समय पूर्व इस नई कविता के सम्बन्ध में चर्चा करने पर एक पक्षग्राही युवक ने कहा था कि इस कविता में बुद्धिरस की प्रमुखता माननी चाहिए। साहित्य के नवरसो के अतिरिक्त यदि कुछ लोग वात्सल्य, सख्य और माधुर्य आदि रसो की कल्पना कर सकते हैं तो बुद्धिरस को स्वीकृति क्यो नही दी जा सकती? प्रश्नकर्त्ता को इतना तो ज्ञात ही था कि काव्य की प्रक्रिया भावमूलक ही होती है। प्रतिभा-

शाली कवि आवश्यक बौद्धिक और दार्शनिक तथ्यो का अपनी भावमयी रचना में समाहार किया करते हैं। शायद ही कोई कृति हो जिसमें बौद्धिक चेतना का प्रवेश नही हो पाया। अतिशय भावना अथवा कल्पनावादी भी यह मानते हैं कि सहज वृत्तियो का उदात्तीकरण मानव-संस्कृति के विकास के साथ-साथ होता है। कोई राष्ट्र या जाति अपनी मूल या आदिम वृत्तियो को संजोये बैठी नहीं रहती। कविता में जातीय जीवन का बौद्धिक विकास भी प्रतिबिम्बित होता है, परन्तु बुद्धिरस तो एक अनोखा पदार्थ है। काव्य के इतिहास में यह शब्द इसके पूर्व कदाचित् कभी नही आया। यहाँ इसका निषेध करने की आवश्यकता नही है, क्योकि इस पर गम्भीरता-पूर्वक आस्था रखने वालो की संख्या नगण्य है।

तथाकथित नई कविता मे इसी बुद्धिरस का बाहुल्य है, इसीलिए कविता की यह नई धारा साहित्यिको के लिए अटपटी और अग्राह्य बनी हुई है। काव्य में साधारणीकरण के प्रश्न पर मत देते हुए श्री अज्ञेय एक स्थान पर कहते हैं, "उसे (कवि को) अभी कुछ कहना है जिसे वह महत्वपूर्ण मानता है। इसलिए वह उसे उनके लिए कहता है जो उसे समझें, जिन्हे वह समझा सके, साधारणीकरण को उसने छोड़ नही दिया है पर वह जितनो तक पहुँच सके उन तक पहुँचता रहकर और आगे जाना चाहता है, उनको छोड़कर नही।" इस अभिमत मे लेखक भाव और भाषा दोनो ही क्षेत्रों मे एक सार्वजनिक अग्राह्यता की आशंका करता है। लेखक की समझ मे कवि के भाव और उसकी भाषा सहज प्रेष्य या सार्वजनीन नही हो रहे। वह उन्हे क्रमश. प्रेष्य और बोधगम्य बनाने की आशा रखता है। उसका यह भी सकेत है कि नई पीढ़ियो के कवि नई भाव-चेतना का आविर्भाव करते है और इस निमित्त नई भाषा का माध्यम ग्रहण करते है। इस समस्त निरूपण में यह कही नही कहा गया कि काव्य या साहित्य मे

यह नवीनता अपना लक्ष्य आप ही है या इसकी कोई वस्तुमुखी या सामाजिक स्थिति या सत्ता भी है। युगचेतना के निर्माता कवियो को इतनी लम्बी सफाई नही देनी पड़ती। समाज के सामने उनका अदम्य काव्य रहता है, उनकी अक्षुण्ण अनुभूति रहती है और उनकी मर्म-स्पर्शिनी अभिनव भाषा रहती है। इन त्रिविध सम्पत्तियो से सम्पन्न कवि को साधारणीकरण की हिचकिचाहट-भरी प्रतीक्षा नही करनी पड़ती।

नई कही जाने वाली इस कविता की भाव-सम्पत्ति पर भी एक दृष्टि डालनी चाहिए। वह कौनसी नवीनता है जिसके साधारणीकरण में इतना संदेह और अविश्वास है? निश्चय ही साधारणीकरण में विलम्ब या असामर्थ्य वे ही कृतिया उत्पन्न करती हैं जिनकी भावधारा असामाजिक है, लोकरुचि अथवा लोक की आशा-आकाक्षा के प्रतिकूल है, इतनी निजी या वैयक्तिक है कि समाज उसकी उपेक्षा करता है अथवा ऐसी उलझी हुई और रहस्यमय है कि उस तक पाठक की पहुँच नही हो पाती। नई काव्य-उपज का अनुशीलन करने पर इनमें से एक या अनेक विशेषताएँ अवश्य दिखाई दे जाती हैं। अनेक रचनाएँ क्षणिक विनोद अथवा भोडे व्यंग्य की सृष्टि के आगे नही जाती। उनपर किसी प्रकार की सम्मति देना साहित्यिक कार्य नही है। आगे बढने पर ऐसी रचनाओ से सावका पड़ता है जिनमें अर्थ-परम्परा टूट-टूट जाती है और पूरी रचना पढ लेने पर किसी भावान्विति का बोध नही होता। ऐसी रचनाएँ अन्तर्मन से अधिक सम्बन्ध रखती हैं, अतएव जब तक पाठक का अन्तर्मन और उसकी प्रज्ञा उसी साचे में नही ढल जाती, जिसमें रचयिता की ढली है, तब तक वह रचना उसकी समझ के बाहर ही रहेगी। स्थिति यह नही है कि कवि अपने भाव-बाहुल्य मे इतना प्रगल्भ है कि पाठक को उसकी सम्पूर्ण अभिज्ञता कुछ विलम्ब से होती है, बल्कि वहाँ तो भावस्थिति की विरलता ही आड़े आती है।

वहाँ भावना अन्तर्मन की उसांस-भर है। इस प्रकार की रचनाएँ पश्चिम से हिन्दी मे आ रही हैं। इनमे अन्तश्चेतन की प्रतिक्रिया बिना किसी प्रकार का चेतन सूत्र पकड़े व्यक्त होती हैं। ये रचनाएँ सामाजिक और व्यावहारिक तथ्यो से नितान्त असंपृक्त रहती है और कवि के निगूढ मन की छाया प्रतिभासित करती है। ऐसी कविताएँ हिन्दी मे किसी नैसर्गिक प्रतिक्रिया का परिणाम नही कही जा सकती। यह निहायत विदेशी कलम हैं और हिन्दी के लिए बहुत-कुछ बेमानी हैं। तीसरे प्रकार की कुछ रचनाएँ कवि को समाज अथवा राज्य द्वारा संत्रस्त होने की सूचना देती है। सामाजिक व्यवस्था और राष्ट्रीय दायित्व का इन रचनाओ में व्यंग्य हुआ करता है। युग-जीवन के प्रति विरक्ति इन रचनाओं का प्रधान स्वर है। प्रतिक्रिया में कुछ कवि समाज और राज्य को घोर अपराधी ठहराकर अपने लिए अथवा अपने जैसे अन्यो के लिये हर प्रकार की छूट चाहते हैं—नैतिक, वैचारिक और क्रिया-संबधी। एक कृत्रिम विषाद की आड मे यह छूट मांगी जाती है। जिस प्रकार वह विषाद निजी और अयथास्थान है, उसी प्रकार यह छूट भी अनधिकृत है। कहते है कि ऐसी रचनाओ मे मध्यवर्ग और विशेषत उसके बुद्धिजीवी अश का अवसाद और किंकर्त्तव्यता चित्रित हुई है। किन्तु किसी भी राष्ट्रीय और सास्कृतिक स्तर पर इन रचनाओं का समर्थन नही किया जाता।

और भी रंगतें इस नई कविता मे है, परन्तु जिस मूल वस्तु की उपेक्षा और अवहेलना सर्वत्र की गई ह वह है जीवन सम्बन्धी रचनात्मक दृष्टि, कर्मण्यता और क्रियाशीलता। वैयक्तिक या वर्गगत प्रतिक्रियाओं मे भी वास्तविकता होती है या हो सकती है, पर उस वास्तविकता का अवलम्ब लेकर राष्ट्रीय स्तर का काव्य उत्पन्न नही होता। नई कविता व्यक्ति और वर्ग की प्रतिनिधि होती जा रही है। सामूहिकता और सार्वजनीनता उसके उपादान नही रह गए हैं। यहा हमें

अज्ञेयजी के साधारणीकरण वाले अभिमत की ओर फिर से दृष्टि-निक्षेप करना पड़ता है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। साधारणीकरण के मूल में सामाजिक और सामूहिक संवेदना ही होती है। लम्बी-चौड़ी भूल-भुलैया में भटकने के बाद अन्त में इस तथ्य पर आना ही पड़ेगा कि काव्य की सार्थकता वैयक्तिक सुख-दुःख की भूमि से ऊपर उठकर सार्वजनिक सुख-दुःख की भूमि में पहुँचने में है। यह प्रश्न अन्ततः कवि के व्यक्तित्व का है। वह अपने निजी परिवेश और प्रवृत्तियों से परिचालित होकर अपने व्यक्तित्व को सीमित कर बैठा है, अथवा परिवेश से ऊपर उठकर राष्ट्रीय और मानवीय धरातल पर आ सका है। व्यक्तित्व की इस आत्मसीमित परिधि का अतिक्रमण करने पर ही श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि सम्भव है और श्रेष्ठ काव्य की प्रकृति कभी अवसादमूलक नहीं हो सकती।

पिछले कुछ समय से नई कविता के समर्थन में एक नया तर्क दिया जाने लगा है, वह यह कि नवीन कविता वादों के आग्रह को छोड़कर मानवीय स्तर पर आ रही है। कुछ समर्थकों ने इसे काव्य में नये मानवतावाद का नाम दिया है। यह तथ्य की अपेक्षा कुछ अधिक है। पाश्चात्य साहित्य में मानवतावाद और मानववाद के अर्थ को भिन्न करने वाले दो शब्द प्रचलित हैं। मानवतावाद का पर्याय ह्यूमैनिटेरियन-िज्म है और ह्यूमैनिज्म तो मानववाद कहते हैं। मानववाद के अन्तर्गत मैकियावेलि, [illegible], [illegible] आदि परिगणित होते हैं, जिन्होंने मनुष्य की सम्पूर्ण शक्तियों का—उसकी सम्पूर्ण सबलता और दुर्बलता का—[illegible] चित्रण किया है। मानवतावादी विचारक [illegible] आतुर और आदर्शप्रेमी होते हैं। [illegible] मानवतावादी [illegible] है, क्योंकि [illegible] सहानुभूति से [illegible] और [illegible] का चित्रण किया है। प्रश्न यह है कि नयी कविता में मानववादी अथवा मानवतावादी दृष्टिकोण

कहां है और किस प्रकार है ? क्या इन रचनाओं में मनुष्य के सुख-दुख की, उसके मिलन-वियोग, हर्ष-विषाद की सन्तुलित धारणा है या वह एकागी रूप से व्यक्ति और वर्ग की सीमित आकांक्षाओं और स्थितियो का विज्ञापन है ? अब तक जो अधिकांश रचनाएं हम पढ़ सके हैं, उनमे हमे यह सन्तुलित मानववाद कही नहीं दीखता । उसके बदले झूठी विभीपिका मे पड़े हुए रोते और कराहते हुए बाबुओ की क्षुद्र अभिलापाए, क्षुद्र चिन्तनाए अधिक परिलक्षित होती हैं, अथवा फिर ऐकान्तिक इच्छापूर्तियो और तृष्णाओ का बाहुल्य है । क्या यही मानवतावाद की झांकी है, यही टाल्सटाय की प्रतिच्छवि है ? हम देखते है कि ये लेखक टाल्सटाय के जीवन-दर्शन से भिन्न—बहुत भिन्न——जीवन-दर्शन के हिमायती है । अभी-अभी एक कविता-सग्रह की भूमिका मे हमने पढा कि नये लेखक और नये कवि 'क्षण' के महत्व को सर्वोपरि मानते हैं । हम नही कह सकते कि यह वक्तव्य नई कविता को देखते हुए कहा तक ठीक है । यदि इसका अर्थ यह है कि क्षण के अतिरिक्त और कुछ भी सत या सार्थक नही है, अतएव आये हुए क्षण का सम्पूर्ण सुखात्मक उपभोग कर लेना है, तो इस क्षणवाद को मानवतावाद का नितात विरोधी और विपरीत दर्शन मानना पडेगा । मानवतावाद त्याग और आस्था की भूमि पर सस्थित है, क्षणवाद के ठहरने की व्यक्तिगत अवसाद की भूमि है ।

नई कविता के वादरहित स्वरूप पर बल देते हुए एक अन्य समीक्षक ने एक दूसरे अनोखे तर्क का सहारा लिया है । वे कहते हैं कि हिन्दी के पिछले काव्य-युगो मे नायक के आधार पर काव्य के लक्ष्य-विशेष की सूचना मिलती थी और वे नायक एक विशेप प्रकार की प्रवृत्तियो वाले व्यक्तित्व को प्रतिफलित करते थे । उदाहरण के लिए छायावादी काव्य मे नायक की रूपरेखा एक विशेप प्रकार की होती थी, जिससे इस काव्य की प्रवृत्ति या भाव-दिशा का परिचय मिलता

था। 'कामायनी' के मनु अथवा निराला के 'तुलसीदास' ऐसे ही व्यक्तित्व हैं। इसी प्रकार प्रगतिवादी काव्य के नायक भी अपनी विशिष्टता लेकर आये है। इस प्रकार की किसी एकदेशीय विशेषता का आग्रह नई कविता के नायक नही करते। यह भी कहा गया है कि नायक का अस्तित्व ही नई कविता से विलीन होता जा रहा है। पता नही इस कथन के पक्ष में कौन से प्रमाण हैं। देखा यह जाता है कि नई कविता मे या तो कवि का अहम्-प्रमुख व्यक्तित्व ही व्यंजित होता है अथवा फिर ऐसे व्यक्तित्व और वातावरण की सृष्टि की जाती है जिसमे नायक और उसकी परिस्थितियां अन्धकारमयी दिखाई पड़े। श्री धर्मवीर भारती का नया नाटक 'अन्धा युग,' जो कई दृष्टियो से एक सफल कृति है, इसी अनास्था को अभिव्यक्त करता है। तीसरे प्रकार की कृतिया वे है जो किसी भाव-दृष्टि या चरित्र-रेखा का निर्माण करती ही नही। ऐसी रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से असफल ही कही जायंगी, क्योकि उनमे किसी प्रकार की स्पष्ट ग्राहकता आती ही नही। हम नही कह सकते कि समीक्षक ने किन नवीन कृतियो का आधार लेकर नायक-हीनता अथवा निस्संगता की बात कही है। यह भी स्पष्ट नही है कि नायक-हीनता से काव्य के मानवीय दृष्टिकोण का बोध कैसे और किस प्रकार होता है? अधिक सम्भव है कि कविता की निःशक्तता ही नायक-हीनता का हेतु हो। जिसे कुछ कहना है वह किसी-न-किसी चरित्र को आधार बनाकर चलेगा ही।

वर्तमान समय मे साहित्यिक और काव्यात्मक मूल्यो की अभिज्ञता घटती चली जा रही है। जिन युगो मे उत्तम साहित्य की सृष्टि नही होती, कदाचित् उन्ही युगो मे साहित्यिक मूल्य भी अज्ञेय रहा करते है। पश्चिम की चटकीली पुस्तकों और चंचल प्रतिमानों ने हमारे बीच अव्यवस्था उत्पन्न करने मे और भी सहायता दी है। वहां अनेक नामों के साथ अनेक प्रसिद्धियां लगी हुई हैं। अनेक गुणो की अनेकविध प्रशंसा

की गई है। किन्तु समाहित रूप मे साहित्यिक आकलन की कमी वहां भी दूर नहीं हुई। नये-नये वादों के स्रष्टा और संचालक अपने सम्प्रदायों मे पूजित है। किन्तु सम्पूर्ण साहित्य-जगत् सम्प्रदायों की चर्चा से अनुशासित नहीं हो सकता। सार्वजनिक मूल्यो और मानों का निरूपण और स्थिरीकरण होना ही चाहिए। किसी एक विशेषता या आविष्कार को लेकर चाहे जितनी दुहाई दी जाय, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भूमिका पर उसकी परख भी करनी होगी। सम्भव है नई कविता की बहुत सी उपलब्धियां अनुल्लिखित और अनकित रह गई हो। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि नई कविता की विवेचना बहुत अधिक अतिरंजित भी होती जा रही है। पश्चिम मे जिस प्रकार विविध साहित्यिक सम्प्रदायो के बीच आत्म-विज्ञापन की प्रथा है उसकी आवृत्ति हम हिन्दी के क्षेत्र में भी कर रहे हैं। किन्तु पश्चिम मे राष्ट्रीय भूमिका पर समग्र विवेचन की जो प्रणाली अपनाई गई है उसे हम अब तक नही अपना सके। समय बदलता है, समय के साथ स्थितिया और रुचियां बदलती हैं, साहित्य की पद्धति बदलती है, परन्तु इस अनवरत परिवर्तन मे साहित्य के मूलभूत उपादानो और उपकरणो को भुला देना बुद्धिमानी नही है। साहित्यिक समीक्षा की सार्थकता इस बात में है कि वह स्थिति और गति, व्ययशील और अव्यय के चिरकालीन वैषम्यो मे अपने को खो नहीं देती, बल्कि निश्चिन्त और निर्विकल्प रूप मे अपने-आपको निरन्तर प्राप्त करती रहती है।

ऊपर के सक्षिप्त वक्तव्य से हिन्दी की नई शैली की रचना का जो रूप हमारे सामने आता है, उससे हम इसके भविष्य पर कुछ भी कह सकने की स्थिति मे नही है। हम यह मानते हैं कि छायावाद की काव्य-धारा अपने ऐतिहासिक उन्मेष मे जो मूल्यवान भेंट साहित्य को दे गई है, उसके पश्चात् नये काव्य की सुस्पष्ट रूपरेखा बनने में समय लगेगा। हम यह नही कहना चाहते कि हिन्दी मे उस पुरानी शैली

की आवृत्ति ही होती रहे। नवीनता काव्य का प्राथमिक उपादान है और पिष्टपेषण उसका अन्तिम अभिशाप। छायावाद की शिष्ट और अलंकृत पदावली तथा उसकी विमोहक कल्पना-छवियों की प्रतिक्रिया होनी ही थी, परन्तु कोई भी प्रतिक्रिया अपने-आप मे साहित्यिक मूल्य नही रखती। हमे नवीन निर्माण, नये शिल्प, नई वस्तु-योजना और नई समयोचित जीवन-दृष्टि की भी चाह है। इन तत्वो के समन्वित योग से जो नई काव्य-प्रतिमा बनेगी उसका स्वागत भी सभी सुधीजन करेंगे। अतिशय भावात्मकता के स्थान पर अतिशय बौद्धिकता स्वभावत: उसका स्थानापन्न बनना चाहती है, संगीत के मोहक स्वरों के पश्चात् कर्कशता का भी एक आकर्षण हो सकता है, हिन्दी-काव्य की कल्पना-प्रवण आध्यात्मिकता के पश्चात् एक नये मासल प्रकृतिवाद की पुकार भी अनहोनी नही है। दूसरी ओर हम यह भी देखते है कि महायुद्ध के पश्चात् हमारी सामाजिक परिस्थितिया भी बड़े वेग से बदली है, विशेषकर बुद्धिजीवी वर्ग के जीवन मे आपात-परिवर्तन आया है। किन्तु इस समस्त परिवर्तन और स्थित्यन्तर के बीच हम अपना सन्तुलन नही खो सकते। हिन्दी-कविता आज अपनी आरोप-प्रियता और व्यंग्यमयता मे उस सन्तुलन को खोती जा रही है, जो राष्ट्र की सबसे मूल्यवान धरोहर है। नये समय मे लेखको और कवियो का दायित्व बहुत बडा है, पर वे समझते है कि उनपर किसी ने कोई अप्रत्याशित विपत्ति ढा दी है। वे अपने को समाज या राज्य से आहत मानते है। उनकी कविता का मुख्य स्वर पीड़ा का द्योतन करता है, इसी पीड़ा की अगली प्रतिक्रिया आत्मपीड़ा में परिणत होती है और तब कविता मे शृंगारिक भावना की शारीरिकता जोर पकड़ती है और कवियो को बहुत-कुछ आत्मजीवी और असामाजिक बना देती है। हिन्दी की नई कविता मे यथार्थवाद के नाम पर इन्ही-भावनाओ और प्रवृत्तियो की प्रमुखता हो रही है। किन्तु भावना की ऐकान्तिक

ा मे पग रखते हुए कवियों को विशाल सामाजिक जीवन अं
घात-प्रतिघातों मे मुंह नहीं मोड़ लेना है। नई कविता के उन्
यदि हिन्दी-काव्य की संघर्षशील राष्ट्रीय परम्परा को कुछ
या महत्व देते हो, तो उन्हे अपने रचना-क्षणों मे अधिक संय
ीनता और दायित्व का परिचय देना ही होगा।

———

रत्नाकर

कविवर जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी के निधन के अवसर पर हमने अपनी श्रद्धांजलि मे निवेदन किया था कि रत्नाकर जी की मनोवृत्ति मध्ययुग की-सी थी, वे मध्ययुग के ही वातावरण में रहते थे और अंगरेज़ी पढ़कर भी उन्हे आधुनिकता से कोई विशेष रुचि न थी। मध्ययुग हिन्दी-साहित्य का सुवर्णयुग था और रत्नाकर जी उसी की रम्य विभूति मे रम गये थे। उनकी भाषा, उनके साहित्यिक विषय सब तत्कालीन ही थे। यहाँ तक कि उनके आचार-व्यवहार मे भी उसी समय की मुद्रा थी। उस युग की कल्पना को वास्तविक बनाकर रत्नाकर जी पूरे प्रसन्न भाव से रहते थे और उन्होने हमारे इस युग की भाव-भाषा की कोई विशेष चिन्ता नही की। अंगरेज़ी मे ऐसे लेखकों और कवियो को 'क्लेसिक' नाम देने की चाल है जो स्वभावत. अपने भावों, पात्रो और भाषा आदि को प्राचीन यूनान आदि की साहित्य-शैली मे ढालते हैं और वहाँ से अपनी साहित्यिक प्रेरणा प्राप्त करते है। धीरे-धीरे ऐसे 'क्लेसिक' साहित्यकारो की एक परम्परा बन गई है जिनकी विशेषताओ को श्रेणीबद्ध करते हुए वहाँ के समीक्षक कहते है कि ये साहित्यकार प्राचीन वातावरण को पसन्द करते, पुरानी ग्रीक, लैटिन अथवा अंगरेज़ी के काव्य-ग्रंथों का अध्ययन करते और उन्ही की शैली को अपनाते हैं। पौराणिक या धार्मिक ग्रंथो के पात्रों का ही चित्रण करने की इनकी प्रवृत्ति होती है, और ये भाषा ही नही, उपमा, रूपक आदि साहित्यालंकारों को भी प्राचीन परिपाटी मे ही ढालने का प्रयास करते हैं। मिल्टन से लेकर अब तक अंगरेजी मे इस प्रकार के अनेक क्लेसिक रचनाकार हो गये है जिनमे मेथ्यू आर्नल्ड अन्तिम

श्री रत्नाकर

आधुनिक काव्य :
रचना और विचार

प्रसिद्ध क्लेसिक समझा जाता है जिसके 'होमरिक' रूपको की अच्छी ख्याति है। यह साहित्यिक वर्ग भाषा मे प्रौढता, भावो मे सयम और गभीरता का आग्रह करता है। किन्तु नवीन जीवन और नूतन सस्कृति का स्पर्श न कर सकने के कारण इस वर्ग के लेखको के विरुद्ध नवीन साहित्यिक उन्मेष की आवश्यकता समझी गई और यूरोप के साथ-साथ इग्लैण्ड मे भी नवीनतावादी लेखको ने क्राति की। भावो मे अस्वाभाविकता, भाषा मे व्यर्थ का भार, पात्रो का रूढिगत चित्रण आदि के आरोप लगाकर नवीन क्रान्तिकारियो ने इन 'क्लेसिको' का तख्त उलट देने का आन्दोलन किया और उसमे वे सफल भी हुए। परन्तु इससे 'क्लेसिक' शैली का ही अन्त नही हो गया, वल्कि परम्परा टूट जाने पर अव तो इस शैली के साहित्यकारो मे एक अनोखा आकर्षण मिलने लगा है और यूरोप के कुछ नए साहित्य-समीक्षक इन प्राचीनतावादियों के पक्ष मे जोरदार प्रेरणा उत्पन्न कर रहे है।

हमारी हिन्दी मे इस प्रकार के साहित्यिक आन्दोलन हुए हैं, पर अभी इस विषय में अधिक प्रकाश पड़ने की आवश्यकता है। हिन्दी मे 'क्लेसिक'-परम्परा सूर और तुलसी के आधार पर ही चली है यद्यपि आचार्यत्व की दृष्टि से केशवदास इसके अधिक अधिकारी है। रत्नाकर जी ने सूरदास, नन्ददास आदि के भावो और उक्तियो का आधार लिया है। इसका यह आशय नही कि रत्नाकर जी और उपर्युक्त कवियो मे कोई अन्तर नही है। वास्तव मे अन्तर वहुत वड़ा है। सूर आदि मध्ययुग की सस्कृति के उन्नायक कवि थे, किन्तु रत्नाकर तो उस उन्नत युग की स्मृति-रक्षा या अनुकरण का उद्देश्य लेकर ही चले थे। जो अन्तर मूलकृति और उसकी अनुकृति मे है वही इनमे भी है। विगत युग के सस्कारो की स्थापना नव्यतर युग मे करना निसर्गतः एक कृत्रिम प्रयास है। वह काव्य सुशोभन और गौरवास्पद हो सकता है किन्तु वह युग का अनिवार्य काव्य नही कहा जा सकता। उत्कृष्ट

करने की फुरसत नही थी। यदि आधुनिक हिन्दी का कोई कवि प्राचीन पथ पर चलने का साहस कर सफल-मनोरथ हो सका है तो वह रत्नाकर जी थे रत्नाकर जी की विशेषता लीक पर ही चलने की थी। यदि अंगरेजी के इस अर्थपूर्ण शब्द को उधार लेना अनुचित न हो तो हम कह सकते है कि रत्नाकर जी 'मेथ्यू आर्नल्ड' की भाँति हिन्दी के अन्तिम 'क्लेसिक' कवि थे, उनको नवीनतावादी अथवा भावी युग का क्रान्तिकारी कवि बतलाना और शायर-सिंह-सपूत की भाँति लीक छोड़-कर चलने की सिफारिश करना, भ्रमजाल खड़ा करना और वास्तविक 'रत्नाकर' से कोसो दूर जा पड़ना है। साहित्यिक इतिहास का अध्ययन हमे इसी निर्णय पर पहुँचाता है।

नास्तिकता और नवीनता के इस अग्रगामी युग मे यह कवि जिस आशा और विश्वास के साथ पुरानी ही तानें छेड़ने मे लगा रहा उसका प्रतिफल उसे अवश्य मिलेगा। इसने हमे पहले के सुने, पर भूलते हुए गान फिर से गाकर सुनाये, पिछली याद दिलाई और हमारे विस्मृत स्वर का सधान किया। इसका यह पुरस्कार कुछ कम नही है। यह काशीवासी रत्नाकर पुरातन ब्रज-जीवन की स्वच्छ भावना धारा मे स्नात एकाधार मे भाषा और काव्य-शास्त्र का पंडित, कलाविद् और भक्त हो गया है। अपने कतिपय श्रेष्ठ सहयोगियो और समकालीनो मे, जो ब्रजभाषा-साहित्य का शृंगार कर रहे थे, रत्नाकर की विशिष्ट मर्यादा माननी पडेगी। भारतेन्दु हरिश्चद्र मे अधिक ऊची प्रतिभा थी, किन्तु उन्हे अवसर न मिला। कविरत्न सत्यनारायण अधिक ऊँचे दर्जे के भावुक और गायक थे, किन्तु उनका न तो इतना अध्ययन था और न उनमे इतनी कला-कुशलता थी। श्रीधर पाठक ब्रजभाषा से अधिक खड़ी बोली के ही आचार्य हुए। वर्तमान और जीवित कवियो मे कोई ऐसा नही जो आजीवन इनकी धाक न मानता रहा हो। विक्रम की बीसवी शताब्दी अब समाप्त हो रही है। अत' जब आगामी शताब्दी के आरम्भ मे

पुराने कवियो और उनकी कृतियो की जाच-पडताल की जायगी, तव रत्नाकर को इस क्षेत्र मे शीर्प स्थान देते हुए, आशा है, किसी को कुछ भी असमंजस न होगा।

परन्तु यह शीर्ष स्थान नवीन प्रासाद-निर्माण का पुरस्कार नही है, केवल पुरानी पच्चीकारी का पारिश्रमिक है। पुरातन और नूतन का यह अन्तर समझ लेना ही रत्नाकर का यथार्थ मूल्य आंकना होगा। भाषा तो भाषा ही है, चाहे वह व्रज हो या खडी वोली, कवि की अभिव्यक्ति के लिए हर एक भाषा उपयुक्त हो सकती है, वह तो साधन-मात्र है साध्य नही। इस प्रकार की विवेचना वे ही कर सकते हैं, जो यह परिचय नही रखते कि भाषाओं के भी आत्मा होती है, अथवा उनके जीवन की भी एक गति होती है। प्रत्येक भाषा की प्रगति का एक क्रम होता है जो सूक्ष्म दृष्टि से देखा जा सकता है। भाषा केवल हमारे भावो तथा विचारो का वाहन नही है जो ठोक-पीटकर सत्र समय काम मे लाई जा सके। उसका एक स्वतत्र व्यक्तित्व और वातावरण भी होता है। हमारी ही तरह उसकी भी शक्ति, इच्छा और संस्कार होते हैं। समय के परिवर्तनशील पटल पर उसकी भी अनेक प्रकार की आकृतियाँ बनती रहती है। उन्हे पहचानना कविजनो के लिए उपयोगी ही नही, आवश्यक भी है। जो व्रजभाषा भक्तो की भावनाओ से भरकर रीति-कवियो की साज-सज्जा से चटकीली हो रही है, उसके साथ आलाप करना या तो किसी वड़े कलाभिज्ञ का ही काम है और या किसी निपट अनाड़ी का ही। जो भाषा अपनी सम्पूर्ण प्रौढ प्रतिभा और देशव्यापी प्रभाव के रहते हुए भी अपनी ही परिचारिका खड़ी वोली को अपना सौभाग्य सौपकर विवश पड़ी हो, उस मानिनी को सांत्वना देने के लिए उसके किसी अनन्य प्रेमी की ही आवश्यकता होगी। व्रज की वह सभ्य सुन्दरी जव ग्रामीण और

साहित्य सदैव अनिवार्य ही हुआ करता है। तुलसी ने वाल्मीकि रामायण और सूर ने श्रीमद्भागवत से काव्य-प्रेरणा प्राप्त की थी और काव्य-सामग्री भी। परंतु हिन्दी के ये प्रतिनिधि कवि इतनी अपार मौलिकता लेकर आये थे कि हिन्दी के लिए वे ही आदर्श बन गये और हिन्दी की सामान्य साहित्यिक परम्परा मे पृथक् रीति से संस्कृत की आवश्यकता ही नही रह गई। सूर और तुलसी ने सस्कृत का त्याग कर जो ग्राम्य-भाषा अपनाई थी (यद्यपि इस ग्राम्य भाषा को ही उनकी लेखनी ने संस्कृत बना दिया) उसे शास्त्रीय या क्लेसिक परम्परा का त्याग ही समझना चाहिए। फिर एक नवीन धार्मिक उत्थान के प्रवाह मे उन कवियो की भावधारा भी नवीन जीवन लेकर ही पहुँची थी जिसपर प्राचीन सस्कृत का प्रभाव कम ही था। किन्तु रत्नाकर जी अपने काव्य मे जीवन की ऐसी कोई मौलिकता और अनिवार्यता लेकर नही आये। उसके स्थान पर वे उक्तिकौशल, अलंकार, भाषा की कारीगरी और छंदो की सुघरता और पांडित्य लेकर आये थे। इस विषय मे विशेष विवाद की जगह नही है कि हिन्दी संसार ने तुलसी-सूर की परम्परा को ही अपनी श्रेष्ठतम श्रद्धांजलि चढाई है। अपितु यहाँ तो यह भी कहा जा सकता है कि तुलमी और सूर आदि की काव्यरचना स्वयम् ही हिन्दी के लिए शास्त्रीय बनकर अपने अनुगामी 'क्लेसिक' कवियो की सृष्टि करने लगी। इसी कवि-मण्डली मे अन्तिम नाम रत्नाकर का लिया जा सकता है। यूरोप मे अनेक कवियो को मध्यकालीन 'फ्यूडल' समाज और काव्य से प्रेरणा मिली थी और अब भी मिलती है। रत्नाकर जी को भी इसी तरह भारत के मध्ययुग का साहित्य और समाज खूब ही भाया था और उन्होने उसे अपना लिया था।

साहित्यिक और सामाजिक इतिहास के विद्यार्थी रत्नाकर जी को इसी रूप में देखते है, परन्तु नवम्बर की 'सरस्वती' में 'कविवर

रत्नाकर' शीर्षक लेख में कुछ नये ही ढंग के विचार प्रकट किये गये हैं। सम्पादकीय टिप्पणी मे भी इस लेख की ओर पाठकों का ध्यान खीचा गया है, किन्तु लेख का पाठ करने पर लेखक और सम्पादक दोनो ही के भ्रात दृष्टि-कोण का पता लगता है। लेखक ने रत्नाकर जी को जिस अति नूतन रूप मे देखने की चेष्टा की है वह एक हँसी की वात है। 'उद्धव-शतक' मे उद्धव के ज्ञानकाण्ड को गोपियो की भक्ति से पराजित करने की योजना नवीन नही है, रत्नाकर जी की उक्तिया भी अनेक अंशों मे सूरदास, नन्ददास आदि से मिलती-जुलती है। प्राचीन हिन्दी का प्रत्येक पाठक इसे जानता है। सगुण और निर्गुण भक्ति की रसमयी रागिनी वैष्णव साहित्य की एक सार्वजनिक विशेषता है। न केवल कृष्णायण सम्प्रदाय ने, तुलसीदास जैसे रामभक्त कवि ने भी इस रागिनी मे अपना स्वर मिलाया है। ऐसी अवस्था मे यह कहना कि रत्नाकर जी के 'उद्धवशतक' की गोपियो की उक्तियाँ नवीन युग के व्यक्तिवाद का सन्देश सुनाती हैं, अथवा भावी अनीश्वरवाद का संकेत करती हैं, प्रसग के साथ अन्याय करना और रत्नाकर जी की प्रकृति से अपरिचय प्रकट करना है। उमर खैयाम से रत्नाकर जी की तुलना करने को सन्नद्ध होना भी केवल एक चमत्कार की सृष्टि करना है। लेखक इस विषय मे अपनी कमजोरी का आप-ही-आप प्रदर्शन करता है जव वह रत्नाकर जी के अन्य काव्यो में प्राचीन कथा और प्राचीन भाषा का पल्ला पकड़े रहने की उनकी विशेपता का उल्लेख करता है। पहले एक सिद्धात वनाकर पीछे रत्नाकर जी के काव्य से उसके उद्धरण देने की चेष्टा करने में खीचतान करनी ही पडेगी—विशेपकर वैसी दशा मे जवकि सिद्धान्त अपनी ही कल्पना की उपज हो। उसी प्रकार लेखक को भी खीचतान करनी पडी है। रत्नाकर भी वैष्णव कवि थे, वे प्राचीन हिन्दी की काव्यधारा मे स्नात थे, उनकी प्रकृति भी उसी साँचें मे ढली थी। उनको पडो, पादरियो और पुरोहितो के विरुद्ध आन्दोलन

करने की फुरसत नही थी। यदि आधुनिक हिन्दी का कोई कवि प्राचीन पथ पर चलने का साहस कर सफल-मनोरथ हो सका है तो वह रत्नाकर जी थे रत्नाकर जी की विशेषता लीक पर ही चलने की थी। यदि अंगरेजी के इस अर्थपूर्ण शब्द को उधार लेना अनुचित न हो तो हम कह सकते हैं कि रत्नाकर जी 'मेथ्यू आर्नल्ड' की भाँति हिन्दी के अन्तिम 'क्लेसिक' कवि थे, उनको नवीनतावादी अथवा भावी युग का क्रान्तिकारी कवि बतलाना और शायर-सिंह-सपूत की भाँति लीक छोड़-कर चलने की सिफारिश करना, भ्रमजाल खड़ा करना और वास्तविक 'रत्नाकर' से कोसो दूर जा पड़ना है। साहित्यिक इतिहास का अध्ययन हमे इसी निर्णय पर पहुँचाता है।

नास्तिकता और नवीनता के इस अग्रगामी युग में यह कवि जिस आशा और विश्वास के साथ पुरानी ही तानें छेड़ने मे लगा रहा उसका प्रतिफल उसे अवश्य मिलेगा। इसने हमे पहले के सुने, पर भूलते हुए गान फिर से गाकर सुनाये, पिछली याद दिलाई और हमारे विस्मृत स्वर का सधान किया। इसका यह पुरस्कार कुछ कम नही है। यह काशीवासी रत्नाकर पुरातन ब्रज-जीवन की स्वच्छ भावना धारा मे स्नात एकाधार मे भाषा और काव्य-शास्त्र का पंडित, कलाविद् और भक्त हो गया है। अपने कतिपय श्रेष्ठ सहयोगियो और समकालीनो मे, जो ब्रजभाषा-साहित्य का शृंगार कर रहे थे, रत्नाकर की विशिष्ट मर्यादा माननी पडेगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मे अधिक ऊंची प्रतिभा थी, किन्तु उन्हे अवसर न मिला। कविरत्न सत्यनारायण अधिक ऊँचे दर्जे के भावुक और गायक थे, किन्तु उनका न तो इतना अध्ययन था और न उनमें इतनी कला-कुशलता थी। श्रीधर पाठक ब्रजभाषा से अधिक खडी वोली के ही आचार्य हुए। वर्तमान और जीवित कवियो में कोई ऐसा नही जो आजीवन इनकी धाक न मानता रहा हो। विक्रम की बीसवी शताब्दी अब समाप्त हो रही है। अतः जब आगामी शताब्दी के आरम्भ मे

पुराने कवियो और उनकी कृतियो की जाच-पड़ताल की जायगी, तव रत्नाकर को इस क्षेत्र मे शीर्ष स्थान देते हुए, आशा है, किसी को कुछ भी असमंजस न होगा।

परन्तु यह शीर्ष स्थान नवीन प्रासाद-निर्माण का पुरस्कार नही है, केवल पुरानी पच्चीकारी का पारिश्रमिक है। पुरातन और नूतन का यह अन्तर समझ लेना ही रत्नाकर का यथार्थ मूल्य आंकना होगा। भाषा तो भाषा ही है, चाहे वह ब्रज हो या खड़ी वोली, कवि की अभिव्यक्ति के लिए हर एक भाषा उपयुक्त हो सकती है, वह तो साधन-मात्र है साध्य नही। इस प्रकार की विवेचना वे ही कर सकते है, जो यह परिचय नही रखते कि भाषाओ के भी आत्मा होती है, अथवा उनके जीवन की भी एक गति होती है। प्रत्येक भाषा की प्रगति का एक क्रम होता है जो सूक्ष्म दृष्टि से देखा जा सकता है। भाषा केवल हमारे भावो तथा विचारो का वाहन नही है जो ठोक-पीटकर सब समय काम मे लाई जा सके। उसका एक स्वतंत्र व्यक्तित्व और वातावरण भी होता है। हमारी ही तरह उसकी भी शक्ति, इच्छा और सस्कार होते हैं। समय के परिवर्तनशील पटल पर उसकी भी अनेक प्रकार की आकृतियाँ वनती रहती है। उन्हे पहचानना कविजनों के लिए उपयोगी ही नही, आवश्यक भी है। जो व्रजभाषा भक्तो की भावनाओ से भरकर रीति-कवियो की साज-सज्जा से चटकीली हो रही है, उसके साथ आलाप करना या तो किसी वडे कलाभिज्ञ का ही काम है और या किसी निपट अनाड़ी का ही। जो भाषा अपनी सम्पूर्ण प्रौढ़ प्रतिभा और देशव्यापी प्रभाव के रहते हुए भी अपनी ही परिचारिका खड़ी वोली को अपना सौभाग्य सौंपकर विवश पड़ी हो, उस मानिनी को सांत्वना देने के लिए उसके किसी अनन्य प्रेमी की ही आवश्यकता होगी। व्रज की वह सभ्य सुन्दरी जव ग्रामीण और

अनुपयोगी कही जा रही हो, तब उसके रोषदीप्त मुख के अश्रु-मुक्ताओं को संभालने के लिए बहुत बड़ी सहानुभूति अपेक्षित है।

जो लोग भाषाओं की यह परिवर्तित परिस्थिति नही समझते, वे सच्चे अर्थ मे कवितारसिक नही कहे जा सकते। उनके लिए तो सभी भाषायें सभी वेश और सब कामो में लगाई जा सकती है। परन्तु वास्तव में भाषा के प्रति यह बहुत ही निर्दय व्यवहार है। बहुत दिन नही हुए जब हिन्दी की एक पुस्तक मे पढा था कि—ब्रज भाषा और खडी बोली में कोई अन्तर नही है। दोनो ही हिन्दी है। दोनो को मिला-जुलाकर व्यवहार करना ही हिन्दी की सच्ची सेवा है। इनका पृथक् अस्तित्व न मानना ही इनका झगडा दूर करना है। इसके लेखक महोदय अपने को ब्रजभाषा का समर्थक और उपकारी मानते है और उन्होने अपनी कविता-पुस्तक की भूमिका में ये बाते लिखी हैं। उनकी पद्य-रचनाएँ पढ़ने पर विदित हुआ कि उन्होने खिचड़ी भाषा लिखकर अपनी भूमिका को चरितार्थ भी किया है। विषय भी उन्होने कुछ नये और कुछ पुराने चुनकर अपना सिद्धान्त सोलह आने सार्थक करने का प्रयास किया है, पर हमारे देखने मे उनकी यह सारी चेष्टा व्यर्थ हो गई है। उनकी कविता मे न तो ब्रजभाषा का उन्नत शब्द-सौन्दर्य है और न उसकी चिर दिन की अभ्यस्त भंगिमाएँ। उनकी खडी बोली भी मानो शिथिल होकर लेटे-लेटे चलना चाहती हो। रचना मे स्वारस्य नही आया, तो उससे क्या लाभ !

हम यह नहीं कहते कि ब्रजभाषा का व्यवहार नये विषयो के वर्णन मे किया ही नही जा सकता। परन्तु इसके लिए दूसरी प्रतिभा चाहिये। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को छोडकर ब्रजभाषा के और किसी उपासक को इस युग मे वह प्रतिभा कदाचित् ही मिली हो। अंगरेज़ी शिक्षा के प्रचार और अंगरेज़ी कविता के अध्ययन-अभ्यास से खड़ी

बोली चैतन्य गति से हमारे हृदय चुराकर चल रही है। व्रजभापा को वह सौभाग्य न मिल सका। यद्यपि नवलता ही जगत के आह्लाद का हेतु है, परन्तु पुरानी कलाएँ भी चिरंतन ग्रानन्द की विषय वनी रहती हैं। यदि जनता की परिवर्तित रुचि के कारण व्रजभाषा समय का साथ देने मे ग्रसमर्थ हो, ग्रथवा यदि कोई ऐसा कवि न हो जो ग्रपनी अपूर्व क्षमता से उसका नवीन रूप-विन्यास कर के उसे ग्राधुनिक जीवन की सहचरी वना सके, तो भी उसके लिए ग्रपनी पूर्व सचित काति सुरक्षित रखने मे कोई वाधा नही। यदि व्रजभाषा केवल मध्य-कालीन विषयों ग्रौर भावों की व्यंजना के लिए ही उपयुक्त मान ली जाय तो भी वह स्थायी ग्रौर स्मरणीय होगी। यदि बोल-चाल की भाषा का पद ग्रहण करके खडी वोली जन-साधारण को ग्राकर्षित कर रही है तो शताब्दियो तक देश की ग्रात्मा की रक्षा ग्रौर उन्नति करने वाली व्रजभाषा ग्रपनी वर्तमान स्थिरता मे भी सम्राज्ञी के पद का गौरव वढा रही है।

तात्पर्य यह कि यदि भापा के स्वभाव को न समझकर वेसुरी तान छेडनेवालो को छोड़ दिया जाय, तो भी साहित्य के पंडितों मे इस समय व्रजभापा-विषयक दो विशेष विचार फैल रहे है। एक तो यह कि व्रजभाषा ग्रव भी नवीन जीवन के उपयुक्त वनाई जा सकती है ग्रौर नव्य संदेश सुना सकती है। दूसरा यह कि वह ग्रपनी विगत शोभा को ही सवारकर ग्रपनी ग्रभीष्ट-सिद्धि कर सकती है। उसे नवीन विपयो की ग्रोर झुकाने में कोई लाभ नही है। यह भी वैसा ही मतभेद है जैसा प्राचीन अजन्ता की चित्र-विद्या के सम्वन्ध मे है। एक ओर तो वंगाल के कलाविद् उसे नवीन उपकरणों मे प्रयुक्त करते है, ग्रौर दूसरी ग्रोर कुछ लोग इस मिश्रण का विरोध करते है। वस्तुत. यह भापा के स्थिर सौंदर्य ग्रौर चलित सौन्दर्य का विवाद है। वहुतो की यह एपणा होती है कि हमारी प्राचीन परिचिता हमारे दैनिक

जीवन में सदैव साथ रहे, पर वहुतो को उसे यह कष्ट देना इष्ट नहीं होता। वे उसकी केवल स्मृति ही रक्षित रखना चाहते है। इस उदाहरण पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि व्रजभाषा हमारी प्राचीन परिचिता ही नही है, वह तो आज भी व्रज मे वोली-चाली जाती है। परन्तु यहाँ हम साहित्यिक व्रजभाषा की वात कह रहे हैं जो शताब्दियो की पुरानी है और खडी वोली के नवीन उत्थान की तुलना मे प्राचीन ही कही जायगी। हम उस व्रजभाषा की चर्चा कर रहे है जो सारे उत्तर-भारत पर एकछत्र शासन कर चुकी है और देश के ओर-छोर तक अपनी कीर्ति-कौमुदी का प्रसार कर चुकी है। यहाँ व्रज की प्रादेशिक वोली से हमारा अभिप्राय नही है। अस्तु, इन द्विविध मतो मे रत्नाकर जी दूसरे मत के अवलम्वी थे। यद्यपि आरंभिक जीवन मे उन्होने अंगरेजी कवि 'पोप' के 'समालोचनादर्श' को व्रजभाषा पद्य मे अवतरित करने की चेष्टा की थी, किन्तु अपनी शेष रचनाओं मे उन्होने ठीक-ठीक व्रज की काव्य-कला का ही अनुसरण किया है।

काशी और अयोध्या मे रहकर व्रज की काव्य कला का अनुसरण विना गम्भीर अध्ययन के साध्य नही है। रत्नाकर जी का अध्ययन वहुत विस्तृत और वहु-वर्ष-व्यापक था। इनके पिता वा० पुरुषोत्तमदास जी फारसी भाषा के विद्वान् थे और उनके यहाँ फारसी तथा हिन्दी-कवियो का जमघट लगा रहता था, वावू हरिश्चन्द्र उनके मित्रो मे से थे। वालक रत्नाकर मे कविता के संस्कार इसी सत्संग से उत्पन्न हुए। एक धनिक परिवार मे जन्म लेने के कारण उनके अध्ययन मे सैकडों वाधाएँ आ सकती थीं और इसी लिए विना विक्षेप वी० ए० तक पहुँच जाना और पास कर लेना इन के लिए एक असाधारण घटना प्रतीत होती है; इसे हम उन के अध्ययन की उत्कट अभिरुचि का फल ही कह सकते हैं। यद्यपि इन्हे व्रजभाषा के अनुशीलन का सुयोग कुछ दिनो वाद प्राप्त हुआ था, तथापि रत्नाकर-

ग्रन्थावली के अध्ययन से प्रकट होता है कि व्रजभाषा पर इनका अधिकार व्यापक और विस्तृत था। आरम्भ की रचनाओ मे भी व्रजभाषा का एक सुष्ठु रूप है, किन्तु प्रौढ कृतियो मे, विशेषकर 'उद्धवशतक' मे, रत्नाकर का भाषा-पाडित्य प्रखर रूप में प्रस्फुटित हुआ है। संस्कृत की पदावली को इतने अधिकार के साथ व्रज की बोली में गूँथ देना मामूली काम नहीं है। यही नहीं, रत्नाकर जी ने अपनी काशी की बोली से भी शब्द ले-लेकर व्रजभाषा के साचे मे ढाल दिये हैं जो एक अतिशय दुष्कर कार्य है। यदि रत्नाकर जैसे मनस्वी व्यक्ति के सिवा किसी दूसरे को यह कार्य करना पडता तो वह अपना प्रान्तीय भाषा को व्रज की टकसाली पदावली मे मिलाते समय सौ-बार आगा-पीछा करता। बहुतो ने इस मिश्रण कार्य मे विफल होकर भाषा की निजता ही नष्ट कर दी है। पर रत्नाकर 'अजगुतहाई', 'गमकावत', 'बगीची', 'धरना', 'पराना' आदि अविरल देशी प्रयोग करते चलते है और कही वे प्रयोग अस्वाभाविक नही जान पडते। उनकी भाषा की नाडी की यह पहचान बहुतो को नही होती। कही-कही 'प्रत्युत' 'निर्धारित' आदि अकाव्योपयोगी शब्दो के शैथिल्य और 'स्वामिप्रसेद पात-थल' 'दन्द-उम्मस' आदि दुरूह पद-जालो के रहते हुए भी उनकी भाषा क्लिष्ट और अग्राह्य नही हुई। फुटकर पदो और कृष्ण-काव्य मे वह शुद्ध व्रज और 'गगावतरण' मे सस्कृत-मिश्रित होती हुई भी किसी न किसी मार्मिक प्रयोग की शक्ति से व्रज की माधुरी से पूरित हो गई है। दोनो का एक-एक उदाहरण लीजिए .—

जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हे
    तातै तुम ऊधौ हमैं सोवत लखात हौ।
कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत की
    जोई मुँह आवत सो विवस बयात हौ॥
सोवत मे जागत लखत अपने कौ जिमि

त्यौ ही तुम आप ही सुज्ञानी समुझात हौ ।
जोग-जोग कबहू न जानै कहा जोहि जकौ
ब्रह्म-ब्रह्म कबहू बहकि बरात हौ ।।

(शुद्ध ब्रज)

स्यामा सुघर अनूप रूप गुन सील सजीली ।
मण्डित मृदु मुख चन्द मन्द मुसक्यानि लजीली ।।
काम वाम अभिराम सहस सोभा सुभ धारिनि ।
साजे सकल सिंगार दिव्य हेरति हिय हारिनि ।।

(संस्कृत–मिश्रित)

फारसी के अच्छे पण्डित होते हुए भी रत्नाकर जी ने बड़े संयम से काम लिया है, और न तो कही कठिन या अप्रचलित फारसी शब्दो का प्रयोग किया है और न कही नैसर्गिकता का तिरस्कार ही किया है। गोपियाँ कृष्ण के लिये दो-एक वार 'सिरताज' का प्रयोग करती है। पर वह उपयुक्त और व्यवहार-प्राप्त है, कठोर या खटकने-वाला नही।

पिछले दिनो 'सूरसागर' का संपादन करते हुए रत्नाकर जी ने पद-प्रयोगो और विशेषत. विभक्ति-चिह्नो के सम्बन्ध मे जो नियम बनाये थे वे उनके ब्रजभाषा अधिकार के स्पष्टतम सूचक है। भाषा पर इस प्रकार अनुशासन करने का अधिकार बहुत बड़े वैयाकरण ही प्राप्त कर सकते है। व्याकरण के साथ रत्नाकर जी का संबध बहुत ही साधारण था, तथापि उनकी वे विधिया बहुत अंशो मे मान्य ही समझी जायंगी, और यदि किसी कारण वे मान्य न भी समझी जाए तो भी उनसे रत्नाकर जी की वह अधिकार भावना तो प्रकट ही होती रहेगी जिसके बल पर उन्होने वे विधियां बनाई हैं।

छन्दों की कारीगरी और संगीतात्मकता में रत्नाकर जी की अधि-

कारपूर्ण कलम स्वीकार की गई है---विशेपतः इनके कवित्त बेजोड़ हुए हैं। हिन्दी और अंगरेजी के कवियों की भ्रान्त तुलनाएँ अधिकाश (कलाविद् शीर्पक) पत्र-पत्रिकाओं मे देखने को मिलती है। परन्तु भापा-सौन्दर्य, सगीत और छन्द-संघटन मे—कविता के कला पक्ष की सुघरता मे—यदि रत्नाकर की तुलना अगरेज-कवि टेनीसन से की जाय, तो बहुत अंशो मे उपयुक्त होगी। टेनीसन की कारीगरी भी रत्नाकर की ही भाति विशेष पुष्ट और संगीत से अनुमोदित हुई है। इन दोनों कवियों की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यही भापा-चमत्कार और छदो की रमणीयता स्थापित करने मे है। चाहे इन दोनो मे भावना की मौलिकता अधिक व्यापक और उदात्त न हो, तो भी रचना-चातुरी मे ये दोनो ही पारगंत हैं। आधुनिक खडी बोली मे भी कवित्त छन्द बने हैं और बन रहे हैं, परन्तु उन्हे रत्नाकर जी के कवित्तो से मिलाते ही दोनो का भेद स्पष्ट हो जाता है। नवीन हिन्दी के कवियो को 'रत्नाकर' की यह कला वर्षों सीखने पर भी आ सकेगी या नही, इसमे सन्देह ही है। खडी बोली मे 'अनूप' के कवित्त कुछ अधिक प्रौढ है, पर उनके एक सुन्दर कवित्त से 'रत्नाकर' के किसी छन्द को मिलाकर देखिए---

आदिम वसन्त का प्रभात-काल सुन्दर था
आशा की उपा से भूरि भासित गगन था।
दिव्य रमणीयता से भासमान रोदसी मे
स्वच्छ समालोकित दिगगना सदन था॥
उच्छल तरंगो से तरंगित पयोनिधि था
सारा व्योम मण्डल समुज्वल अघन था।
आई तुम दाहिने अमृत बाएँ कालकूट
आगे था मदन पीछे त्रिविध पवन था॥

(अनूप)

रसमय किन्तु अधिक सूक्तिप्रिय है। रीति-कवियो की अपेक्षा वे साधारणतः अधिक भावनावान्, अधिक शुद्ध और गहन संगीत के अभ्यासी हैं। हम कह सकते हैं कि भक्तो और शृंगारियों के बीच की कड़ी रत्नाकर के रूप मे प्रकट हुई थी। उनकी रचना में उनका नया अभ्यास, नया प्रबंध-कौशल, और नए बुद्धिवादी युग का व्यक्तित्व भी दिखाई देता है।

———

कान्ह हू सौं आन ही विधान करिबैं कौं ब्रह्म
मधुपुरियानि की चपल कँखियां चहै ।
कहै रतनाकर हसै कै कहौ रोवें अब
गगन अथाह थाह लेन मखिया चहै ।।
अगुन सगुन फन्द वन्द निरवारन कौं
धारन कौं न्याय की नुकीली नखिया चहै ।
मोर-पंखिया कौ मोरवारौ चारु चाहन कौं
ऊधौ अँखिया चहै न मोर-पँखिया चहै ।।

(रत्नाकर)

प्रथम कवित्त मे वह असाधारण दृढ़ता है जो खड़ी वोली के कम कवित्तो में मिलेगी, पर उस अन्तरंग गहन संगीत की ध्वनि नही जो दूसरे कवित्त से पद-पद पर प्रकट हो रही है। यह केवल शब्द-सौन्दर्य की वात नही है। छन्द के घटन-जन्य सौन्दर्य की, पंक्ति-पंक्ति की एक से दूसरी की सन्निधि की, और उस सन्निधि मे सन्निहित संगीत की वात है। यहा रत्नाकर की व्रजभाषा और नवीन खडी वोली का भेद बहुत कुछ प्रकट हो जाता है। यही उस पुरानी पच्चीकारी की वात है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके है। नवीन प्रासाद-निर्माण के कार्य मे और इस मीनाकारी मे जो अन्तर है, वह यहाँ थोडा-वहुत स्पष्ट हो जाता है। खडी वोली के कवित्त मे कलम पकडते ही लिख-चलने का सुभीता है। पर व्रजभाषा के कवित्त के लिए रियाज़ और तैयारी चाहिए। इसी कारण इन दिनो खडी वोली मे भावना का अधिक सत्य रूप और व्रज मे अधिक अलकृत रूप उतरने की आशा की जाती है।

रत्नाकर जी के छंदो की चर्चा करते हुए हमने उनकी जिस रचना-चातुरी की प्रशंसा की है वह काव्य का चरम लाभ नही है, वह

तो कवियो की वह श्रमलभ्य कला है जिसकी सहायता से वे अद्वितीय चमत्कार की सृष्टि करके सुख-सचार करते है। बहुधा प्रथम श्रेणी के जगद्विख्यात कवियों मे यह कला कम देखी जाती है और मध्यम श्रेणी के सौन्दर्यप्रिय कवि उन अवसरो पर इसका अधिक प्रयोग करते हैं, जव उन्हे वास्तविक काव्य-भावना के अभाव की पूर्ति करनी होती है। इस अनमोल उपाय से कविगण अपना उत्कर्ष-साधन करते है। अंगरेजी कवियों मे टेनीसन ने इसी की सहायता से अपनी मर्यादा भाषा के श्रेष्ठ कवियों के समकक्ष स्थापित की थी। उसमे चासर और कोलरिज की-सी स्वच्छ रचना की मौलिक शक्ति नही, स्पेंसर का—सा वहुत भारी और व्यापक विषय का ग्रहण-सामर्थ्य नही। शेक्सपियर की सहज विश्वजनीनता नही, न वह उत्थान, न वह विस्तार, न वह सर्वगुण-सम्पन्नता ही है। मिल्टन का गम्भीर स्वर भी उसे नही मिला, न वर्डसवर्थ की आध्यात्मिक प्रकृति-प्रियता, न शेली की आधिदैविक भावना, न कीट्स का स्वच्छन्द सरस प्रवाह। फिर भी टेनीसन काव्य-कला के आश्चर्य-प्रदर्शन के द्वारा शेक्सपियर को छोड़कर शेष सवके समकक्ष आसन पाने का अधिकारी हुआ है। हम देखते है कि रत्नाकर मे भी काव्य-कला का वही प्रदर्शन सर्वत्र नही, तो कम से कम कवित्तो में अवश्य दृष्टिगोचर है। इनकी अधिकाश भावना भक्तों से ली हुई है। परन्तु भक्तों मे इनकी तरह कविता-रीति नही थी। वे तो स्वच्छन्द भावनावान कवि थे। उनके उपरान्त जो रीति-कवि हुए, उनमे अनुभूति की कमी और भापा-शृगार अधिक हो गया। इस कवि-परम्परा मे पद्माकर अन्यतम समझे जाते हैं और रत्नाकर जी इस विपय मे अपने को पद्माकर से प्रभावित मानते थे। तथापि 'उद्धव-शतक' में उनकी कविता अलकार वहुल होती हुई भी भक्ति-भावापन्न हुई हैं और 'गगावतरण' मे प्रवन्ध का विचार पद्माकर के 'रामरसायन' से अधिक प्रौढ है। भक्तो की अपेक्षा रत्नाकर कम

रसमय किन्तु अधिक सूक्तिप्रिय है। रीति-कवियो की अपेक्षा वे साधारणतः अधिक भावनावान्, अधिक शुद्ध और गहन संगीत के अभ्यासी है। हम कह सकते हैं कि भक्तों और शृंगारियों के बीच की कडी रत्नाकर के रूप मे प्रकट हुई थी। उनकी रचना मे उनका नया अभ्यास, नया प्रबंध-कौशल, और नए बुद्धिवादी युग का व्यक्तित्व भी दिखाई देता है।

———

श्री मैथिली शरण गुप्त

आधुनिक काव्य :
रचना और विचार

मैथिलीशरण गुप्त

श्री मैथिलीशरण गुप्त को आधुनिक हिन्दी का प्रथमकृति कवि कहना चाहिए। यहाँ हम काव्य-साधना की बात कह रहे है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की सालाना गद्दियो के लिए जो साधनाएँ की जाती है, यहाँ उनपर विचार नहीं किया जा रहा है। इस प्रसंग मे हम उस साधना का उल्लेख कर रहे है, जो हिन्दी की मरुभूमि मे अन्तःसलिला की भाँति बहती, शुष्क जीवन को प्रसन्न बनाती है। यह साधना कोरी भावुकता के बल पर नही जीती, यह एक प्रकार का कर्मयोग है जिसमें भावना का मणिकांचन मेल मिला रहता है। यह जीवन का अन्तर्मुखी प्रवाह है जो संमार की आँखो के ओट ही रहना चाहता है। डाक्टर सुहरावर्दी ने बंगाल के मुसलमानो को सचेत करते हुए कहा था कि यहाँ के हिन्दू रात-रात भर सरस्वती की आराधना करके बड़े हुए हैं, तुम्हारी तरह सो-सोकर नही। यहाँ हम जिस साधना का उल्लेख कर रहे हैं वह ऐसी ही है। मैथिलीशरण जी हिन्दी के इस युग के पहले कवि हैं जिन्होने कविता की ज्योति समय, समाज और आत्मा के भीतर देखी है, जिन्होने नयी काव्य-धारा की अबाध गति से हिन्दी-समाज को अभिसचित किया है। उनकी भाषा-सम्बन्धिनी साधना उनके भावयोग के साथ उनकी समस्त कृतियो मे व्याप्त देख पडती है जैसा कि उनके पहले के आधुनिक किसी कवि मे नही देख पडती। एक चेतन काव्यात्मक अनुभूति के प्रकाश मे उनकी रचनाएँ चमक रही हैं। गुप्तजी को इस युग का प्रतिनिधि कवि कहा गया है। प्रतिनिधित्व का प्रश्न यहाँ विचारणीय नही है। परन्तु युग के विकासोन्मुख जीवन का साक्षात्कार करने और उसे वाणी का परिधान पहनाकर नयनाभिराम बना

देने के कारण इस युग मे गुप्तजी जनसमाज के प्रथम कृती कवि कहे जायेंगे।

गुप्तजी खद्दर पहनते है और स्वदेशी चाल-ढाल मे रहते है। वे विनीत और मितभाषी है। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की साहित्य-परिषद बैठी थी। उपस्थित महिलाओ ने बाबू श्यामसुन्दरदास को सूचना दी कि वे मैथिलीशरण जी का आशीर्वचन सुनना चाहती है। बाबू साहब के बहुत कहने से वे अपनी जगह से उठकर महिलाओं के पास गये पर उन्होने वहाँ कोई आशीर्वाद नही दिया। गये और लौट आये। यह उनकी प्रकृति की बात है, जो ध्यान देने योग्य है। वे जब अपने भाई सियारामशरण जी के साथ बाते करते है तो सदैव अपने घर की भाषा मे। सरलता की वैसी झलक हमने हिन्दी के किसी कवि मे नही देखी। 'निराला' जी की सरलता दूसरे प्रकार की है। उसमे हम इतना संकोच, इतनी भावुकता और विनय नही पाते। इतनी एकान्तिकता और आदर्शवादिता उनमें नही है।

इससे उनकी काव्य-साधना पर अच्छा प्रकाश पडता है। सरल अभिव्यक्ति उनकी सबसे प्रथम और सबसे प्रधान विशेषता है। यही उस व्यापक प्रभाव का उद्गम है जो गुप्तजी की काव्यधारा में सर्वत्र देख पड़ता है, यह कविता को लोक-सामान्य भाव-भूमि मे लाकर प्रतिष्ठित करने का सबसे बड़ा साधन है। यही सरलता सारग्रहण मे सबसे अधिक समर्थ होती है, इसी केन्द्र से महती शक्ति की सृष्टि होती है और नवीन काव्य-युगो का निर्माण होता है। गुप्तजी जितना प्राच्य साहित्य से, प्राचीन गाथाओ से प्रभावित हुए है, उतना ही आधुनिक जीवन से भी। वीर-पूजा का भाव उनमे स्वत. प्रसूत हैं। उन्होने प्राचीन कथाओं को नवीन आदर्शों का निरूपक बनाकर प्रस्तुत किया।

सारग्राही सरलता के साथ-साथ गुप्तजी की आदर्शवादिता भी चलती है। उस आदर्शवादिता मे औदात्य उतना नही जितना एक

भावुकतामय नैतिकता है। गुप्तजी का प्रारभ से ही—'क्या न विपयोत्कृष्टता लाती विचारोत्कृष्टता' मत रहा है और उनकी समस्त रचनाएँ इस वात की साक्षिणी भी हैं। उनकी यह आदर्शवादिता, हम समझते हैं, वहुत कुछ वर्तमान कृतिशील जीवन का स्वाभाविक परिणाम है और उनके पारिवारिक वातावरण के फलस्वरूप है। स्वामी दयानन्द आदि की प्रेरणा से एक प्रकार के वुद्धि-जन्य आदर्शवाद की सृष्टि हुई थी। यही प्रेरणा समाज मे प्रविष्ट होकर, आगे चलकर, थोडी वहुत कृत्रिम हो गई। इसी से कभी-कभी साम्प्रदायिक झगडे भी होने लगे। हिन्दी के इस युग मे इस शुष्क आदर्शवाद के चिन्ह रूखी-सूखी कविताओ और साम्प्रदायिक कहानियो मे देख पडे थे, परन्तु गुप्तजी के सरल भावनामय हृदय के साथ मिलकर वहुत-सी कटुता दूर हो गई। 'भारत-भारती' का काव्य-प्रवाह, स्वामी दयानन्द के अनुयायियो की वहुत-सी दलीलो के ऊपर पहुँचकर उसे अधिक लोक-सामान्य वनाता है। गुप्तजी की सवेदनशील आदर्शवादिता कितनी प्रभावशालिनी है यह 'भारत-भारती' का प्रचार देखकर समझा जा सकता है।

गुप्तजी की आदर्शवादिता के साथ उपदेशक वृत्ति भी उनकी रचनाओ मे आदि से अंत तक देखी जाती है। 'भारत-भारती', 'हिन्दू' और 'गुरुकुल' उपदेश-विशिष्ट काव्य है। 'जयद्रथवध', 'पंचवटी', 'त्रिपथगा', आदि मे जीवन-व्यापी रूप मे आदर्श चित्र आये है, उनमे उपदेश काव्य–सीमा को लाँघकर ऊपर नही आये। गुप्तजी का शृंगार अत्यन्त संयमित, उनकी नायिकाएँ प्राय. करुण मुख-श्री समन्वित हुई है। भारत ने, वहुत दिनो से, प्रशस्त-प्रेम को कर्तव्य के भार मे दवा दिया है, विशेपत गुप्तजी के युग में तो पारिवारिक मधुर सम्वन्ध भी विशेष शुष्क से हो गये दीखते थे। गुप्तजी की रचनाएँ युगधर्म के अनुकूल हुई हैं। उनकी सीता ('पंचवटी') मानो वर्तमान नागरिक-जीवन की कर्कशता से खिन्न होकर कानन-वासिनी हुई है, उनके 'लक्ष्मण' भी

एकान्त-जीवन के प्रशंसक और अनुयायी है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि गुप्तजी के आदर्शवाद का उद्गम सामयिक परिस्थिति से ही हुआ है। इसके अतिरिक्त गुप्तजी ने एक तीसरी प्रणाली का आश्रय भी लिया है। वह तीसरी प्रणाली अनुवादो की है।

हम यह कह चुके हैं कि 'जयद्रथ-वध', 'पंचवटी' आदि रचनाओ में गुप्तजी का आदर्शवाद काव्य-प्रवाह के भीतर की वस्तु है, वहाँ यह अतिशय सरस देख पड़ता है। 'गुरुकुल', 'हिन्दू' आदि मे उतनी सरसता नही, क्योकि उनमे भावना को काव्य का परिच्छेद नही दिया जा सका। वहाँ कवि-जीवन की सम्पूर्ण ज्योति काव्य-जीवन को नही मिलती। गुप्तजी के कवि-हृदय मे इसकी प्रतिक्रिया होती है और वे अनुवादों की शरण लेते है। 'विरहिणी व्रजांगना', 'वीरांगना', 'मेघनादवध' आदि उनके अनुवाद-ग्रथ इस सत्य के साक्षी है। परन्तु गुप्तजी की काव्य-साधना से यथार्थतः परिचित होने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि एक ओर 'भारत-भारती', 'हिन्दू' आदि और दूसरी ओर 'वीरागना', 'व्रजांगना' आदि उनकी सामान्य प्रवृत्ति के अनुकूल नही। 'पंचवटी', 'जयद्रथवध', 'यशोधरा आदि का मध्यमार्ग ही उनकी काव्यसाधना का यथार्थ पथ है।

दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज लाहौर के हिन्दी अध्यापक श्री सूर्य-कान्त शास्त्री, एम० ए० अपनी 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' नाम की पुस्तक मे गुप्तजी के सम्वन्ध मे काफ़ी लम्बी चर्चा करते हैं; पर हिन्दी की सनातन-प्रथा के अनुसार वे भी उनकी दो-चार भिन्न-भिन्न कृतियो का अलग-अलग उल्लेख कर चुप हो रहते हैं। इस तरीके से कवि के मस्तिष्क और कला के क्रम-विकास का कुछ भी पता नही लग सकता। शास्त्री जी ने 'भारत-भारती', 'जयद्रथवध', 'मेघनादवध' और 'विरहिणी व्रजांगना' के अध्ययन से ही काम निकाला है और वह अध्ययन भी किसी संश्लिष्ट रूप से नहीं

किया। यद्यपि शास्त्री जी की मुद्रा गम्भीर है पर उनका विवेचन साधारण कोटि का है। उदाहरण के लिए शास्त्री जी 'भारत-भारती' के संवंध मे एक स्थान पर लिखते हैं—

"इसमे वर्णन की गई भारत की प्राचीन दशा को पढ़ पाठक औज्ज्वल्य और अभिमान के कलधौत शिखर पर चढ़ जाता है। परन्तु वहां पहुँच जव वह अपनी वर्तमान पतित दशा पर दृष्टिपात करता है तव शोक तथा विस्मय से स्तिमित हो नैराश्य के गम्भीर गर्त्त मे गिर पड़ता है।"

फिर उसके वाद आप कहते है—

"विश्वजनीन और विश्वयुगीन कविताओं के साथ 'भारत-भारती' की तुलना करना अदूरदर्शिता है। वह तो युग-विशेष के लिए निर्मित हुई थी, उस युग का काम उसने पूरा कर दिया। अव वह युग नहीं रहा है, इसलिए उसका व्याख्यान करनेवाली कविता भी अनावश्यक हो गई है।"

जिस काव्य को इतना प्रभावपूर्ण आपने ऊपर कहा, है, उसी के लिए कहते है कि उसकी आवश्यकता नही रही। क्या ये दोनों निष्कर्ष परस्पर विरोधी नही ?

'जयद्रथवध' के सम्वन्ध मे आप केवल यह कह कर चुप हो रहते हैं—"काव्य-कला की दृष्टि से भारत-भारती की अपेक्षा इसे अच्छा वताया गया है।"

इसी सिलसिले में 'मेघनादवध' पर लिखते हुए आपने महाकवि रवीन्द्रनाथ का नीचे लिखा वड़ा लम्वा उद्धरण दिया है—

"मेघनादवध काव्य की केवल छन्द-रचना और रचना प्रणाली मे ही नही किन्तु उसके आन्तरिक भाव के अन्दर भी एक अपूर्व परिवर्तन देखा जाता है। यह परिवर्तन अपने को भूला हुआ नही है। इसमे एक

प्रकार का विद्रोह है। यहा कवि ने तुकवंदी की वेडी को तोड डाला है और वहुत दिनो से रामायण के विपय मे जो हमारे दिल के अन्दर एक भावशृंखला चली आ रही थी, कवि ने उसके वन्धन को भी उद्-डता के साथ तोड़ डाला है। इस काव्य मे राम और लक्ष्मण की अपेक्षा रावण और इन्द्रजीत का महत्व प्रदर्शित किया गया है। जो धर्मभीरुता हमेशा कौन-सी वस्तु कितनी अच्छी और कितनी वुरी है, इसी का एकमात्र सूक्ष्मतया विचार किया करती है, उसका त्याग, दीनता और आत्म-सयम इस कवि के हृदय को आकृष्ट नही कर सके है।"

इसके आगे भी वहुत कुछ कह चुकने के वाद इंसकी कोई सार्थकता नही प्रकट की जा सकी। जो ईसाई-कवि पश्चिमीय संस्कृति के रग मे सरावोर था, उसका विश्लेपण करते हुए पाश्चात्य सभ्यता के विशेपज्ञ रवि वावू जो कुछ कहते है वह सव हिन्दू-उत्कर्प के हामी, 'भारत-भारती' के रचयिता रामोपासक मैथिलीशरण जी के संवंध मे कही जा सकती है या नही, इस पर शास्त्री जी ने विचार नही किया। हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-भाषा जनता के किस भावप्रवाह की लहरी 'मेघनादवध' मे तरलित हो उठी है, इसकी कोई खोज नही की गई। अन्त में 'विर-हिणी व्रजांगना' के अनुवादक की भापा की प्रशंसा करके शास्त्री जी ने गुप्त जी की चर्चा समाप्त कर दी है।

वास्तविक वात यह है कि 'भारत-भारती' की रचना पूर्ण आर्य-समाजी प्रभाव के अन्दर हुई है। स्वामी दयानन्द ने ईसाई पादरियों और मुस्लिम मौलवियो का मुंह वन्द करने के लिए जिस दलीलपसन्द तर्कवाद की सृष्टि की थी उसने व्यापक हिन्दुत्व को भी वहुत कुछ घेर और जकड दिया। सत्यार्थप्रकाश मे अपाठ्य ग्रन्थो की जो सूची दी है उसमे महात्मा तुलसीदास का रामचरितमानस भी सम्मिलित है। जैसी काव्यभावना इस तर्क-प्रधान वातावरण में विकसित हो सकती थी वैसी ही गुप्त जी मे भी विकसित हुई। आर्यसमाज ने भारतीय अद्वैत-

वाद का भी विरोध किया जिसका स्पष्ट अर्थ आत्मविकास के आदर्श को कुण्ठित कर देना था। 'भारत-भारती' में राष्ट्रीय भावना उतनी प्रवल नही है जितनी साम्प्रदायिक भावना। मैथिलीशरण जी के हिन्दू संस्कार आर्यसमाज के दायरे मे ही दृढ हो रहे थे। तथापि कवि की उज्ज्वल, अभेद-कारी ज्योति भी दवी न रह सकी। 'जयद्रथवध' में उसकी आभा अच्छी निखरी है। वीर-पूजा की निर्विकल्प भावना 'अभिमन्यु' के चरित्र मे खिल पडी है। 'जयद्रथवध' के मूल मे राष्ट्रीय चेतना का उत्कर्ष 'भारत-भारती' से किसी कदर कम नही है, अधिक ही है। नवयुवक वीर अभिमन्यु राष्ट्रीय यज्ञ मे अपने प्राणो की आहुति चढा देता है। माता और पत्नी का अनुराग उसके मार्ग मे वाधक नही होता; वह दृढता से, किन्तु संयम से उसकी अवहेलना करता है। सप्त-रथियो के दुर्भेद्य चक्र की परवाह उसे नही और शस्त्रो के कट जाने पर भी—निश्शस्त्र होकर भी वह वहादुरी के साथ उनका सामना करता है। परन्तु आततायियो का जमघट शस्त्रवल से और (द्रोणाचार्य के) शास्त्रवल से भी, न्याय-युद्ध की परिपाटी को तोडकर उस वीर का सहार कर डालता है। क्या यही हमारी वर्तमान परिस्थिति नही ?

'मेघनादवध' के अनुवाद की प्रेरणा गुप्त जी को यूरोप से नही मिली, वह भारतीय वात्याचक्र से ही उठी है। मधुसूदन दत्त की तरह गुप्त जी असुर-भावना के भक्त नही है, वे उसके प्रशंसक भी नही हैं। गुप्त जी उद्दाम शक्ति की ताण्डव-लीला देखने के इच्छुक नही है। वे भारत के एक रामभक्त ग्रामीण है, विराट्-आसुर चित्रो मे उनकी वृत्ति नही रमती। वे अपनी सीता को आश्रमवासिनी बनाते हैं, जो पंचवटी की छाया मे पशु-पक्षियो को आश्रय देती है, आहार देती है। लक्ष्मण भी संस्कृत के धीरोदात्त नायको की परवाह न कर सरल, संयमशील जीवन को ही अपनाते हैं। उनकी एक अभिलाषा देखिए—

—इच्छा होती है स्वजनों को एक वार वन मे लाऊं
और यहां की अनुपम महिमा उन्हे घुमाकर दिखलाऊं

दूसरे स्थान पर कहते है—

नही जानती हाय हमारी माताएं आमोद-प्रमोद
मिली हमे है कितनी कोमल कितनी बड़ी प्रकृति की गोद !
इसी खेल को कहते है यदि विद्वज्जन जीवन-संग्राम
तो इसमे सुनाम कर लेना है कितना साधारण काम ?

यही उस सरल, सुस्पष्ट मानवीय भावनावाद का उद्‌गम है जिससे यूरोप के रोमानी काव्य का प्रवाह उमड़ा था। युगो की ऐश्वर्येषणा समन्वित महत् चित्रों से विरक्ति होने लगी है, राजाओं-महाराजाओ के युद्ध-विग्रह अच्छे नही लग रहे। वर्ड्‌सवर्थ आदि का 'हाइलैंड रीपर' आदि सामान्य और सामाजिक अर्थ में हीन पात्रों की ओर आकर्षण, सरल अकृत्रिम भाषा और भाव की ओर हमारे कवियों की भी रुचि रही है। गुप्त जी के पात्र संस्कृत परिपाटी के भले ही हो पर उनके क्रियाकलाप सर्वथा मानवीय धरातल पर होते हैं। 'मेघनादवध' में भी इसी प्राचीन अलौकिकता के स्थान पर मानवता की प्रतिष्ठा है और गुप्त जी के काव्य मे भी। बस इतने अंश मे इन दोनों का भावसाम्य है।

यूरोप मे जैसे-जैसे नवीन युग का प्रकोप बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे नैतिक नियम 'उदार' होते जा रहे है। सच्चरित्र और दुश्चरित्र नाम के शब्द, जान पड़ता है, यूरोप के शब्दकोष से उठे जा रहे हैं। अब तो हमारे देश मे भी इन्ही उदार भावनाओं का प्रसार होने लगा है। कहा जाता है कि नैतिकता या सदाचार का निर्णय बंधी हुई सामाजिक परम्पराओ के द्वारा नही किया जा सकता, उसकी जाच व्यक्ति की परिस्थिति की परख से की जा सकती है। काव्य में यह वस्तु एक प्रकार से अनावश्यक बनी जा रही है। कहा जाता है कि व्यक्ति का इतना विकास हो गया है कि वह समाज की शृंखला को, उसकी नीति-रीति को जब चाहे तोड़ सकता है, यह व्यक्तिवाद की

प्रखर धारा सामाजिक उपकूलो को डुबोकर उमडकर बहना चाहती है। भारत मे भी उसकी बाढ आ रही है। यह हमारे समस्त दृढमूल संस्कारो को उखाड फेकने की फिक्र कर रही है। यह भी वर्तमान युग की निराशा-लहर का ही एक स्रोत है जिससे हमे सावधान रहना होगा।

यूरोप की बात यूरोप जाने, हम कभी भी समाज की आचार-मान्यता की अवहेलना नही कर सकते। समाज की शक्ति ही समष्टि की शक्ति है, सामाजिक रीति-नीति, संस्कार, सदाचार सब इसी के अन्दर आते है। इस विषय मे यूरोप की नवीन विचारधारा हमारे यहां से मेल नही खा सकती। हमारे यहा आत्मा को सर्वशक्तिमान् माना गया है जिसे ससार की कोई भी परिस्थिति आक्रान्त नही कर सकती। यह आचार की दृढ-भित्ति है। यूरोप का परिस्थितिवाद हीन ह्रासोन्मुख सामाजिक अवस्था का परिचायक है। विशेपकर जब हम देखते है कि रूस जैसे उन्नतिगामी-देश के साहित्यिक भी उच्च चारित्र्य का निर्वाह अपने साहित्य मे नही करते, तब हमे और भी आश्चर्य होता है। निश्चय ही गुप्त जी के साहित्य मे वास्तविक उच्चकोटि का चारित्र्य उस श्रेणी का नही है जैसा रामचरितमानस आदि मे है, किन्तु एक नैतिक मर्यादा और तज्जन्य आदर्शवाद उनमे अवश्य है। यूरोप का व्यक्ति-स्वातंत्र्य व्यक्ति को आसमान पर चढ़ा सकता है परन्तु हमारी प्रगति और हमारा विकास हमे नित्यप्रति नतशिर ही करते हैं। यूरोप का अतीत जंगली और असभ्य-निवासियो का इतिहास है इसलिए स्वभावत. वह उस आधार को ग्रहण नही करना चाहता; हमारी बात दूसरी है। हमारे यहा तो ज्ञान से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है। हमारे वेद दिव्यज्ञान की लिखित प्रतिकृति है, हमारा समाज आदि से ही ऋषियों और ज्ञानियों का समाज रहा है। हमारे कवि सदा से इस दिव्य-भावना का साक्षात्कार करते आये है और तन्मय होते आये हैं। एक दफे काशी विश्वविद्यालय के सुकवि-समाज में

भाषण देते हुए 'निराला' जी ने देवी और आसुरी साधनाओ का बड़ा ही मनोरम विश्लेषण किया था। तुलसीदास जी की साधना सम्पूर्णत: देवी है। उनकी भावना का स्तर पूर्ण सात्त्विक है और आसुरी भाव का वहां कहीं नाम भी नही है। सीताजी के शृंगार-वर्णन से लेकर उत्तरकाण्ड के ज्ञानदीपक तक सर्वत्र सत्व ज्योति ही देख पड़ती है। रावण, मेघनाद आदि राक्षसो की सार्थकता उज्ज्वल ज्योति को प्रखर करने मे ही है।

मनियत सबै राम के नाते सुहृद सुसेव्य जहा लौं।
सियाराम मय सब जग जानी, करौ प्रणाम जोरि युग पानी।

रावण, मेघनाद आदि पात्रो की परिणति राम मे ही है। गुप्तजी मे उतना उच्च अध्यात्म नही है, उसके स्थान पर नैतिक दृष्टि है।

तुलसीदास और मैथिलीशरण की तुलना करने पर आध्यात्मिक या दैवी परिधि और नैतिक मानवीय परिधि का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। पंचवटी-प्रसंग को लेकर देखे। सूर्पणखा रुचिर रूप धारण कर राम-लक्ष्मण को मोहने आई है। इस पर तुलसीदास की तीव्र प्रतिक्रिया देखिए—

अधम निशाचरि कुटिल अति चली करन उपहास,
सुनु खगेश भावी प्रबल भा चह निशिचर नाश।

और इसके वाद शीघ्र ही—

"लक्ष्मण अदि लाघव तिहि नाक-कान विनु कीन्ह"

परन्तु मैथिलीशरण जी इस प्रसंग मे सूर्पणखा के प्रति अधिक सहानुभूति दिखाते है, लक्ष्मण और राम को उससे अधिक देर वाते करने का मौका देते है; उसकी सुन्दरता का अधिक वखान किया गया है। सीताजी तो उसे अपनी देवरानी बनाने को तैयार हो जाती है। पारिवारिक मनोविनोद की सात्विक आभा बीच-बीच मे फूट निकली

है। मैथिलीशरण जी का यह विवरण कुछ काव्य-प्रेमियो को अधिक रुचिकर भी हो सकता है, परन्तु अन्त मे यह कहना ही पड़ेगा कि महात्मा तुलसी की साधना दूसरे प्रकार की और गुप्तजी की दूसरे प्रकार की है।

तुलसीदास राम-वनवास मे लक्ष्मण को निरन्तर मौन रखते हैं। मौन के भीतर ही उनके चरित्र का विकास होता है और यह विकास बहुत ऊंचे दर्जे का है।

मैथिलीशरण जी के लक्ष्मण कहने को तो मौन हैं पर आपसे आप काफ़ी बातचीत करते है। इस बातचीत के फलस्वरूप उनका चरित्र जैसा निखरा है उसे पाठक अधिक रुचिकर कह सकते है पर अधिक उदात्त तो नही कह सकते।

तुलसीदास के राम और सीता कभी भी लक्ष्मण से विनोद नही करते; पर मैथिलीशरण जी की 'पंचवटी' मे बराबर मनोविनोद और हास्य आदि के स्थल आये है। इससे और कुछ नही सिद्ध होता, केवल इतना ही सिद्ध होता है कि गुप्तजी की काव्य-धारा मानवीय उपकूलों के अधिक पास से बह रही है।

रावण और मेघनाद की तामसी शक्ति ही नही, हनुमान भी तुलसीदास की निगाह मे प्रभु-प्रताप के ही परिणाम है। सबका उद्गम एक है। तुलसीदास की यह अद्वैत भावना लोगो की समझ मे कम आती है, क्योकि काव्य-प्रवाह के बीच उसका अप्रत्यक्ष रूप ही देखा जा सकता है। मैथिलीशरण जी के अनेक पात्र अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं। इसका कारण यह है कि तुलसी की वृत्तिया जितनी संयमित और समाहित है, मैथिलीशरण जी की उतनी नही। यह परिवर्तन साहित्य और संस्कृति के विकास मे आवश्यक हो गया था। दो युगो की पृथक्-पृथक् छाया हम दोनो मे देखते हैं।

जिस अविरत साधना का अभिनव सौन्दर्य गोस्वामी जी के 'मानस' में शतदल, सहस्त्रदल होकर खिल उठा है, कालचक्र मे पड़कर उसका ह्रास हो गया। आध्यात्मिक शक्तिपूर्ण पवित्र आदर्श एक निर्जीव निस्सार धर्माभास मे परिणत हो गया। शृगार-काव्य के सहेट स्थानो की भाति भक्ति-सम्प्रदायो के अनेक ऐकान्तिक लोको की सृष्टि हुई और शृंगारिक नायिकाओ की स्पर्द्धा मे शतश: दिव्य नायिकाओ का निर्माण हुआ; जिनका आभास भक्ति-काल की 'उज्ज्वल नीलमणि' आदि आलंकारिक और रीतिवद्ध रचनाओ मे मिलता है। इसी प्रकार असामान्यता का अर्थ आरम्भ में उच्च सदाचार-पूर्ण धीरोदात्त आदि नायको का चित्रण रहा होगा पर आगे चलकर उसने ऊंचे घरानो के और समाज के संरक्षक समझे जाने वाले राजा-महाराजाओ के वर्णन का रूप धारण कर लिया, जिसके कारण कविता मे ह्रासोन्मुख सामंतवाद की मिथ्या-रूढियों और अनुभूतिहीन शब्दाडंवर का काफी प्रचार हुआ। यूरोप मे भी इसी कृत्रिमता की वृद्धि होती रही और अन्त में वह प्राचीन 'क्लेसिक' काव्यसाहित्य के पतन का कारण हुई। वह कृत्रिमता रूढियो के चक्र में पडकर प्रगतिशील मनुष्य-जीवन से इतनी भिन्न हो गई और दूर जा पड़ी थी कि मनुष्य उसे वहुत दिनो तक सहन नही कर सका। उसके फलस्वरूप जो प्रतिक्रिया हुई उससे यूरोप के रोमैंटिक आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इस आन्दोलन ने काव्य की कृत्रिम असामान्यता दूर कर दी और उसके स्थान मे लोक-सामान्य भाषा और लोक-सामान्य भावो की सृष्टि की। भारतीय काव्य-साहित्य मे भगवान् कृष्ण के असामान्य व्यक्तित्व की आड़ मे एक ओर आलंकारिक और पिष्टपेपित भक्ति जो अपनी सास्कृतिक उपयोगिता खो चुकी थी और दूसरी ओर अनर्गल किन्तु दुर्वल शृंगार का प्रवाह वहता रहा। हिन्दी के शृंगार-काल का हाल कौन नही जानता? मैथिलीशरण जी ने पहले-पहल इस अवनत स्तर

से कविता को ऊपर उठाने का उपक्रम किया। यही साधना उन्हे जन-समाज का कवि वनाने मे समर्थ हुई। गुप्तजी 'हिन्दू' की भूमिका में एक स्थान पर कुछ क्षुव्ध से होकर कहते है 'हाय! लेखक कही जन-साधारण का ही कवि हो सकता! परन्तु प्रतिभा देवी का वह प्रसाद भी प्राप्त न हो सका।' हम गुप्तजी को यह विश्वास दिलाते हैं कि जन-साधारण का कवि होना ही प्रतिभा का सबसे वड़ा प्रसाद है और उस प्रसाद की प्राप्ति के लिए आपने जो साधना की है वह हिन्दी के इतिहास मे आपका नाम अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। नीचे के कुछ चित्र कितने सामान्य, किन्तु हमारे प्राणो के कितने सन्निकट है—

वैठी वहन के स्कन्ध पर, रक्खे हुए निज वाम कर
कुल—दीप—सा वालक खड़ा था स्थिर वहां
थी तोतली वाणी अहा, उसने मधुर स्वर से कहा
'मालू अचुल को मैं अभी वह है कहाँ'

... ...

संचित किए रक्खे हुए, शुक वृन्द के चक्खे हुए
कुछ वेर जो थे दीन शवरी के दिये
खाकर जिन्होने प्रीति से, शुभ मुक्ति दी भवभीति से
वे राम रक्षक हो धुनर्धारण किये

(त्रिपथगा)

इसी पुस्तक में उस ब्राह्मण के घर का वर्णन आया है जिसके यहाँ पाण्डव वनवासी अतिथि वनकर पहुँचे थे। ऐसा शान्त, सरल, पवित्र वातावरण का घर हिन्दी के नवयुगीन आदर्शवाद के ही अनुकूल है।

कुछ लोग हिन्दी कविता मे छायावाद के अवतरण से नवीन युग का श्रीगणेश मानते हैं। गीत-काव्य की छटा वास्तव मे अभी-अभी देख पड़ी है, पर जहाँ तक नवीन भावनाओ का सम्वन्ध है, हम कह सकते हैं कि गुप्तजी के अन्तःकरण मे उसकी आभा सवसे पहले जगी

जयशंकर प्रसाद

नवीन युग की हिन्दी-कविता की वृहत्रयी के रूप मे श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और श्री सुमित्रानन्दन पन्त की प्रतिष्ठा मानी जाती है। उपर्युक्त वृहत्रयी ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी काव्य मे युगान्तर उपस्थित कर चुकी है। यह कविता के अन्तरंग और वाह्यागो की मौलिक सृष्टि करके साहित्य-समाज के सामने आई। इनमे भी ऐतिहासिक दृष्टि से श्री जयशंकर प्रसाद का कार्य सबसे अधिक विशेषता-समन्वित है। उन्होने कविता विषय का सबसे प्रथम विस्तार किया, कल्पना और सौन्दर्य के नये स्पर्श अनुभव कराये। उनके पूर्व के हिन्दी-कवि, प्राचीन शृंगारिक कवियो के शृंगार से इतना भयभीत से हो गये थे कि वे उसे स्पर्श करने मे ही संकोच मानने लगे थे। काव्य में मधुर भावो का प्रवेश सशंक दृष्टि से देखा जा रहा था, जिसके कारण कविता के प्रति आकर्षण की कमी हो रही थी।

हिन्दी मे द्विवेदी-युग गद्य के अभ्युदय का युग था। विचारो का प्रकाश जितना गद्य मे प्रकट होता है उतना पद्य मे कठिनाई से हो सकता है। समूह की भाषा गद्य की ही हो सकती है, और उस समय समूह को भाषा की आवश्यकता थी। काव्य के द्वारा तर्क नही किया जा सकता, पर उस समय लोग तर्क पसन्द करते थे। अभ्युदयशील जनतावाद के युग मे पद्य की अपेक्षा गद्य का अधिक प्रयोग किया जाना स्वाभाविक ही है, वही किया भी गया। सिद्धान्तों की चर्चा के लिए, साधारण विचार व्यक्त करने के लिए, वक्तृताओ के लिए, गद्य का सभी लोग प्रश्रय लेते हैं, उस युग के भी साहित्यिको [illegible] आचार्य द्विवेदी जी की अधिकांश प्रतिभा गद्यशैली की स[illegible] व्यय

श्री जयशंकर प्रसाद

आधुनिक काव्य :
रचना और विचार

थी। अंगरेज़ी मे भी वर्ड्सवर्थ और शेली आदि नवीन काव्य-धारा के प्रवर्तक माने जाते थे, पर हाल के आलोचको ने वह श्रेय उनके पूर्व के कुछ कवियों को दिया है। जिसे सामान्य मानवता कहते हैं और जो यूरोप के रोमैण्टिक काव्य-प्रवाह का उद्गम है उसकी आरम्भिक व्यंजना गुप्तजी ने ही इस युग की हिन्दी मे सर्वप्रथम की—

यही होता है जगदाधार!
छोटा-सा घर आंगन होता, इतना ही परिवार।
कहीं न कोई शासक होता और न उसका काम।
होता नहीं भले ही तू भी, रहता केवल नाम।
गाता हुआ गीत ऐसे ही रहता मैं स्वच्छन्द।
तू भी जिन्हे स्वर्ग मे सुनकर पाता परमानन्द।
होते यन्त्र न तन्त्र और ये आयुध यान अपार।
होता नहीं क्रान्ति कोलाहल शान्ति खेलती आप।
जैसा आता बस वैसा ही जाता मैं चुपचाप।
स्वजनो मे ही चर्चा छिड़ती, सो भी दिन दो-चार।
यही होता है जगदाधार!

यह हिन्दी के नवयुग की भावना ठीक वैसी ही है जैसी अंगरेजी मे फ्रांस की राज्यक्रांति और यांत्रिक-सभ्यता के प्रवेश-काल मे उठी थी।

मैथिलीशरण जी की काव्यसाधना बिलकुल स्वदेशी ढंग की है। उसका मेल महाकवि रवीन्द्रनाथ से नहीं मिलता। रवि बाबू का भावना-प्रवाह उन्मुक्त होकर दिग्दिगत में प्रसरित होता है। उनका मस्तक अपनी साधना से उन्नत, अपने गौरव से दीप्तिमान है। युगों के उपरान्त भारत ने ऐसा दिग्विजयी कवि प्राप्त कर अपने को धन्य माना है। यूरोप मे रवि बाबू का आतक पूर्व के मध्याह्न-सूर्य की भांति छाया रहा है। उन्होंने समुद्र-समीर में गंभीर मंगल-ध्वनि सुनी है,

नीलाम्वर उनकी विश्वविजयिनी कविता-कामिनी का अंचल-प्रान्त बनकर कृतकृत्य हुआ है। उन्होने विश्वप्रिया की उज्जवल आभा मे समस्त क्षुद्रता तिरोहित कर दी है, दासत्व का सम्पूर्ण कलक-तिलक धो डाला है।

वेचारे मैंथिलीशरण इतनी स्पर्धा नही कर सकते। उनकी साधना वैसी नही। वे दीन-दरिद्र भारत के विनीत, विनयी और नतशिर कवि है। कल्पना की ऊँची उडान भरने की उनमे शक्ति नही है, किन्तु राष्ट्र की और युग की नवीन स्फूर्ति, नवीन जागृति के स्मृति-चिन्ह हमे हिन्दी मे सर्वप्रथम गुप्तजी के काव्य से ही मिलते है। वे रवि वावू की भाति विश्व की अनंत सत्ता को कविता की ऐश्वर्यमयी साधना का अग नही बना सके। वे महापुरुष की भाति आज्ञा देकर नही भिक्षार्थी की भांति आचल पसारकर तृप्ति चाहते है। उनकी करुण काव्य-मूर्ति आधुनिक विपन्न और तृषित भारत को वडी ही शान्ति-दायिनी सिद्ध हुई है।

— ——

जयशंकर प्रसाद

नवीन युग की हिन्दी-कविता की वृहत्रयी के रूप में श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और श्री सुमित्रानन्दन पन्त की प्रतिष्ठा मानी जाती है। उपर्युक्त वृहत्रयी ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी काव्य मे युगान्तर उपस्थित कर चुकी है। यह कविता के अन्तरंग और वाह्यागो की मौलिक सृष्टि करके साहित्य-समाज के सामने आई। इनमे भी ऐतिहासिक दृष्टि से श्री जयशंकर प्रसाद का कार्य सबसे अधिक विशेषता-समन्वित है। उन्होने कविता विषय का सबसे प्रथम विस्तार किया, कल्पना और सौन्दर्य के नये स्पर्श अनुभव कराये। उनके पूर्व के हिन्दी-कवि, प्राचीन शृंगारिक कवियो के शृंगार से इतना भयभीत से हो गये थे कि वे उसे स्पर्श करने में ही संकोच मानने लगे थे। काव्य मे मधुर भावों का प्रवेश सशंक दृष्टि से देखा जा रहा था, जिसके कारण कविता के प्रति आकर्षण की कमी हो रही थी।

हिन्दी में द्विवेदी-युग गद्य के अभ्युदय का युग था। विचारो का प्रकाश जितना गद्य मे प्रकट होता है उतना पद्य मे कठिनाई से हो सकता है। समूह की भाषा गद्य की ही हो सकती है, और उस समय समूह को भाषा की आवश्यकता थी। काव्य के द्वारा तर्क नही किया जा सकता, पर उस समय लोग तर्क पसन्द करते थे। अभ्युदयशील जनतावाद के युग मे पद्य की अपेक्षा गद्य का अधिक प्रयोग किया जाना स्वाभाविक ही है, वही किया भी गया। सिद्धान्तो की चर्चा के लिए, साधारण विचार व्यक्त करने के लिए, वक्तृताओ के लिए, गद्य का सभी लोग प्रश्रय लेते हैं, उस युग के भी साहित्यिको ने लिया। आचार्य द्विवेदी जी की अधिकांश प्रतिभा गद्यशैली की स्थापना में ही व्यय

श्री जयशंकर प्रसाद

आधुनिक काव्य :
रचना और विचार

हुई। छंद की ओर उतना ध्यान नही रहा, जितना व्याकरण की ओर। काव्य संगीत को छोडकर साहित्यिकों ने गद्य-प्रवाह का पल्ला पकडा। कोई नही कह सकता कि वे अपने कार्य मे असफल हुए। कुछ ही वर्षों के प्रयास से उन्होने हिन्दी मे गद्यशैली की ऐसी सुदृढ स्थापना कर दी जिसका लोहा अव भी माना जाता है। कविता के क्षेत्र मे द्विवेदी-युग का अतिक्रमण किया जा चुका है। विचारो की दुनियाँ भी वदल चुकी है; पर गद्यशैली तो उसी युग की अव भी चल रही है। आज भी आचार्य द्विवेदीजी गद्य के सवसे वड़े अधिष्ठाता माने जाते है। जिस प्रकार काव्य मे खड़ी वोली का प्रयोग सामयिक वातावरण का एक लक्षणमात्र था, उसी प्रकार गद्य का विकास भी। उसी वातावरण में रवि वर्मा के चित्रो का सार्वदेशिक सम्मान हो रहा था। उस वातावरण को हम एक प्रकार का सामूहिक पवित्रता-वादी, नवोत्साहपूर्ण वातावरण कह सकते है, जिसमें स्थूलता और कृत्रिमता की छाप भी देखी जाती है।

सव लोगों को इस प्रकार का वातावरण रुचिकर नही होता। यदि कुछ लोग सिद्धान्त-निरुपण और तर्क पसन्द करते हैं तो सव लोग नहीं कर सकते। गद्य का चमत्कार उन्ही के कानो में संगीत से वढकर आनन्द उत्पन्न कर सकता है जिनको वैसी अभिरुचि हो। वहुत से ऐसे आदमी मिलेंगे जो श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के गद्यसौन्दर्य को श्री सुमित्रानन्दन के छन्दो से अधिक पसन्द करें, पर वहुत से ऐसे नही भी मिलेंगे। 'कविता-कलाप' की रचनाएँ तो आज वहुत ही कम रुचिकर लगेंगी, उनकी शृंगार सम्वन्धी कविताएँ तो निम्न कोटि की समझ पडेगी। उनमें कवियों का हृदय खुलकर कल्पना और भावना की तरंगों मे वहा ही नही। जिन्होने रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' पढी है, फिर 'कविता-कलाप' की 'तिलोत्तमा' आदि का वर्णन पढ़ा है; वे यह समझ लेंगे कि द्विवेदी-युग कविता के लिए कितना अनुपयोगी और अनुर्वर

था। यदि काव्य के लिए अनुपयोगी न होता तो शायद इतने अल्प समय में गद्य की इतनी सुन्दर प्रतिमा खड़ी न की जा सकती। कविता के लिए अनुपयोगी हो, तो भी हिन्दी के लिए वह सुयोग ही था।

उस समय की प्रचलित कविता की दिशा बदलने मे अग्रणी श्री जयशंकर प्रसाद ही ठहरते है। श्री श्रीधर पाठक की अनूदित कृतियो के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाएँ प्रसादजी के पहले की नही है। कवि श्री रत्नाकर प्राचीन पौराणिक कथा-वस्तुओं को लेकर आलंकारिक रचनाएँ कर रहे थे। उनकी भाषा पुरानी और काव्य-सस्कृति मध्य-कालीन थी। नवीनता केवल नवीन रूपको, अलंकारो और प्राचीन भावो को नवीन उक्तियो से सज्जित करने मे थी। आप कह सकते है कि कथानक के प्राचीन होने मे क्या उनका चित्रण नवीन नही हो सकता? हो सकता है, जैसा मैथिलीशरण जी के 'साकेत' आदि काव्यो मे हुआ भी है, किन्तु रत्नाकर जी की वह दृष्टि नही थी। वे प्राचीन आत्मा मे नव्य प्रकृति का सन्निवेश नही करना चाहते थे। इसलिए उन्होने प्राचीन आत्मा को ही रंगीन बनाकर उपस्थित किया। उनकी रचना इसीलिए उक्ति-बहुल और आलंकारिक हुई। एक बात यहाँ और समझने की है। जिसे हम आज प्राचीन या मध्यकालीन कहते हैं वह उन-उन कालो मे प्राचीन नही थी जब उसकी सृष्टि हुई थी। उदाहरण के लिए सूरदासजी को लीजिए और उनकी तुलना रत्नाकर से कीजिये। सूरदासजी के काव्य मे वही भाव अतिशय प्राकृतिक, रसमय, मनोरम और परिपुष्ट संस्कृति के उन्नायक होकर आये हैं। उनकी काव्यधारा 'रत्नाकर' जी की-सी उक्ति-बहुल, अलंकृत और कोरी साहित्यिक (pedantic) नही है।

श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय काव्यगत नवीनता, एक नया संदेश और नई दृष्टि लेकर आये। रत्नाकर जी के 'गंगावतरण' से गुप्तजी के 'जयद्रथवध' की तुलना करने पर यह स्पष्ट

हो जाता है कि शैली मे एक नई खराद और काव्य मे पौराणिकता के स्थान पर आदर्शात्मक मनोभावों का प्रवेश भी हो रहा है। किन्तु वह प्रवेश भी आरंभिक और आंशिक है। मैथिलीशरणजी मे वह एक करुण मानवीय सात्विकता तथा उपाध्यायजी मे प्रशान्त सात्विकता तक सीमित है। अपने समय के ये उत्थान कम उल्लेखनीय नही हैं, किन्तु ये शैशवावस्था के हैं। ये जीवन की व्यावहारिक वास्तविकताओ और यौवनोद्वेग की किरणो से ऊष्म नही है। कथावस्तु प्राचीन है, यद्यपि निरूपण नया है। सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि पूर्वयुग की है। उदाहरण के लिए गुप्तजी की नवीनतम रचना 'द्वापर' काव्य को भी देखे, तो स्त्री का वही करुण समर्पण, भावुक परावलम्वन आदि देखने को मिलेंगे। काव्य-चित्र और काव्य-शैली भी व्यक्त, स्थूल रेखावद्ध, अनुदात्त और अनुत्कर्षपूर्ण है। सिख गुरु के प्रभाव के कारण उपाध्यायजी मे करुणा की अपेक्षा शान्त और भावना की अपेक्षा कर्तव्यपरायणता की प्रमुखता है किन्तु दोनो है एक ही युग के दो रत्न, साहित्य मे भी समानधर्मा, सांस्कृतिक दृष्टि भी मिलती-जुलती। कुछ समीक्षको ने लिखा है कि इन कवियो का प्रकृति-प्रेम और प्राकृतिक चित्रण भी उल्लेखनीय है, किन्तु प्रकृति का स्वतन्त्र और वास्तविक चित्रण तथा उसकी निजी सत्ता के प्रति आकर्षण हमे इन कवियो मे कही नही देख पडा। यत्किंचित् वह उपाध्यायजी मे है, पर कथा के अग-रूप मे ही। यह भी एक कारण है कि हमे इन कवियो मे प्रवन्ध-रचनाओं की ही प्रवृत्ति देख पडती है, सुन्दर भाव-गीतो की सृष्टि की नही।

श्री जयशकर प्रसाद ने काव्य के लिए परम आवश्यक माधुर्य भाव की सृष्टि प्राकृतिक वर्णनो द्वारा आरम्भ की। 'चित्राधार' की उनकी उस काल की कविताएँ लोगो को अनोखी लगी होगी।

'चित्राधार' से प्रकृतिप्रेम की जो कविता आरम्भ हुई उसका विश्लेपण करने पर कई वातें मालूम होती हैं। एक तो वह गीत-कविता

के रूप मे है। जहाँ छोटी-छोटी भावनाएँ एक मे केन्द्रित होकर गेय हो उठती है, उसे गीत-काव्य कहते है। हिन्दी के आलोचकों ने गीत-काव्य के सम्बन्ध मे भयानक भ्रम फैला रखा है। अपनी विचित्र व्याख्याओं में वे कहा करते है कि जहां अंतःसौन्दर्य व्यक्त करना होता है वहां गीत-काव्य द्वारा और जहा वाह्य-सौन्दर्य व्यक्त करना होता है वहाँ प्रवंध-काव्य द्वारा किया जाता है। पर इस प्रकार की वात वास्तव में है नही! द्विवेदी-कालीन काव्यकारों या पुस्तक-रचयिताओ को ही लीजिए। क्या उनमें हम केवल वाह्य आकार-प्रकार और व्यवहार की स्थूल वर्णना ही मुख्यतः नही पाते ? यही नही, प्रेम-मूलक जिन कविताओ मे वे समीक्षक अन्त सौन्दर्य देखा करते है उनमे कही-कहीं तो अन्त : सौन्दर्य यही होता है कि वे एक उत्तेजनाशील प्रज्वलन मात्र उत्पन्न करती है। यदि देखा जाय तो इस प्रकार के अन्त.सौन्दर्य से तो वाह्य-सौन्दर्य ही श्रेष्ठ है। इसी के विपरीत हम प्रवन्ध काव्यो के विस्तृत कथानकों और चरित्र-चित्रणो में जो ऊपरी दृष्टि से वाह्य प्रतीत होते हैं उत्कृष्ट श्रेणी का अन्तःसौदर्य देखते हैं। वास्तव मे सौन्दर्य की सत्ता किसी काव्य-साचे की वंदिनी नही। वर्णनात्मक और गीतात्मक काव्य-भेद से इसके वाह्य और आन्तर सौन्दर्य के भेद करना मेरे विचार से असंगत है। गीत-काव्य और प्रवन्ध रचना मे भेद यह है कि एक मे काव्य किसी एक ही सूक्ष्म किन्तु प्रभावशाली मनोभाव, दृश्य या जीवनसमस्या को लेकर केन्द्रित हो जाता है और दूसरे मे वहुमुखी जीवनदशाओं और स्थितियो का चित्रण किया जाता है। महाकाव्य की भूमिका प्राय. उदात्त और स्वर गम्भीर हुआ करता है, जवकि गीतो में माधुर्य की प्रधानता होती है और मुक्तक काव्य मे मानसिक स्वरूपो, सूक्ष्म और रहस्यमय मनोगतियो की सुषमा अधिक देखने को मिलती है। दोनों मे ही उच्च कोटि के जीवन-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हमे मिल सकती है।

यह सब कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ी है कि उपर्युक्त अद्भुत आलोचको के कारण हिन्दी काव्य जगत् मे अत्यन्त हानिकारिणी विचार-परम्परा स्थिर होती जा रही है। जहाँ कोई सौन्दर्य नही वहाँ अन्त: सौन्दर्य देखा जाता है। जहाँ सौन्दर्य है उसकी अवहेलना की जाती है। जो गीत-काव्य केवल काव्य संवधी रूपात्मक वर्गीकरण की वस्तु है उसे जीवन के अन्त.सौन्दर्य का प्रतिनिधि समझा जाता है। यह सवका सव भीषण भ्रम है। कविता की प्रकृत समीक्षा मे न कही गीत-काव्य है, न कही अगीत काव्य। न कही अन्त.सौन्दर्य है, न कहीं वाह्य सौन्दर्य। सब प्रकार के काव्य मे सब प्रकार का सौन्दर्य समाहित किया जाने योग्य है। हमे देखना यही चाहिए कि कहाँ पर क्या है ?

श्री जयशंकर प्रसाद के 'चित्राधार' मे उनकी विशिष्ट प्रकार की दार्शनिक अभिरुचि के कारण प्रकृति-प्रेम एक विशिष्ट प्रकार से व्यक्त हुआ है। अंगरेज़ कवि वर्ड्सवर्थ की भाति प्रकृति के प्रति उनका निसर्गसिद्ध तादात्म्य नही देख पड़ता। प्रत्येक पुरुष में उन्हे वह प्रीति नही जो वर्ड्सवर्थ की थी। प्रत्येक पर्वत, प्रत्येक घाटी उनकी आत्मीय नही। वे प्रत्येक पक्षी को प्यार नही करते। यह 'चित्राधार' की वात कही जा रही है। उसमे उनका प्रेम रमणीयता से है, प्रकृति से नही। वे सुन्दरता मे रमणीयता देखते हैं, सर्वत्र नही। इस रमणीयता के सवंध मे उनकी भावना रति की भी है और जिज्ञासा की भी। रति उनका हृदय-पक्ष है, जिज्ञासा उनका मस्तिष्क-पक्ष। कही-कही वे रमणीय दृश्यो को देखकर मुग्ध होते और कही-कही प्रश्न पूछते हैं कि यह रमणीयता इसमे कहां से आई। यदि अधिक छान-वीन की जाय तो देखा जायगा कि मुग्ध होने वाले स्थल कम हैं, जिज्ञासा के स्थल अधिक। जिज्ञासाओ की व्यजना यह है कि वे प्रत्येक रमणीय वस्तु मे चैतन्य ज्योति देखते है। अवश्य ही यह चैतन्य ज्योति कवि के हृदय

मे चमत्कार उत्पन्न करती है। यह चमत्कार आरम्भ मे जीवन के किसी गहन स्तर को स्पर्श करता कम देख पड़ता है। नवयुवक कवि यद्यपि अनेक बार इस प्रकार की जिज्ञासाएँ करके दिव्य सौन्दर्य का सकेत करता है, पर उसकी सामान्य दृष्टि किसी तात्विक निष्कर्ष तक नही पहुंचती। उसकी सौन्दर्य-भावना का विकास व्यापक नही होता। वह प्रकृति के रम्य रूपों और नारी की मनोहरता तक ही परिमित रहती है। जिस प्रकार ब्रजभाषा के कवि प्रकृति का वर्णन मनुष्यजगत का उद्दीपन बनाकर करते थे, उसी प्रकार अनेक बार जयशकर जी ने भी किया है; किन्तु उनकी भावना आरम्भ से ही अधिक सूक्ष्म और उन शृंगारी कवियों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और जिज्ञासामय है। यह जिज्ञासा ही आगे उनके विकास मे सहायक हुई है। यदि 'चित्राधार' मे ये जिज्ञासाएँ न होतीं, तो प्रसाद जी प्रेमाख्यानक शृगारी कवियो की श्रेणी से ऊपर उठकर उच्चतर रहस्य-काव्य का सृजन न कर पाते।

चित्राधार' से आगे बढने पर श्री जयशंकर प्रसाद के प्रकृति-प्रेम और मानव-चरित्र सबंधी धारणा को उत्तरोत्तर गहराई मिलती है। उनकी जिज्ञासा-वृत्ति का विकास होता है। 'प्रेम-पथिक' इसका प्रमाण है। इसमे प्राकृतिक वर्णन मनुष्यों की कहानी के लिए सुरम्य वातावरण वन गया है और मानव-सौन्दर्य केवल कुतूहल की वस्तु न रहकर एक अनुपम त्याग की भावना में पर्यवसित हो गया है। प्रकृति के प्रेम से हटकर उनकी जिज्ञासा मनुष्यो के प्रेम में समाविष्ट हो गई है। जिज्ञासा का तार नही टूटता। इसी मे कवि का विकास देखा जा सकता है। 'प्रेम-पथिक' मे कवि की मनुष्यप्रेम सम्बन्धी जिज्ञासा का स्वरूप प्रकट हुआ है। यहाँ कवि एक तात्विक निष्कर्ष तक पहुँच सका है। प्रेम अनन्त है, उसका ओर-छोर नही है। उसकी परिणति पूर्ण त्याग मे है। इसमें वड़ी स्वच्छता और सात्विकता है। यह न

समझना चाहिए कि प्रसाद जी का यह प्रेम-संबंधी आदर्श प्राचीन आध्यात्मिक गतानुगतिकता का परिणाम है। इसमें कवि की अपनी अनुभूति और विचारणा का भी योग है। इसका भाव-चित्रण तथा प्राकृतिक दृश्यावली कवि के हृदय के योग से अपनी स्वतन्त्र विशेषता रखती है। इसमे परम्परा-रक्षण के स्थान पर नवीन उद्योग है। बाह्य प्रकृति की रमणीयता के साथ-साथ प्रेम की रमणीयता की यह छोटी-सी आख्यायिका हिन्दी मे एक नवीन भाव-धारा का आगमन सूचित करती है। प्रेम-पथिक का यह छोटा-सा कथानक कवि के स्वच्छ जीवन-क्षण मे लिखा गया है।

'आसू' प्रसादजी का विरहकाव्य है। यह बड़ी ही मनोरम गीतकविता है। हिन्दी मे इसकी गणना थोड़ी-सी उत्कृष्ट रचनाओ में की जा सकती है। आधुनिक हिन्दी मे जो थोड़े-से प्रथम श्रेणी के विरह-गीत है उनमे 'आसू' का भावना-सकलन श्रेष्ठ होने के कारण वही उत्तम गीत है। 'आँसू' को अध्यात्म और छायावाद आदि का नाम देकर उसे जटिल बना देने के पहले उसको उसके प्रकृत रूप मे देखना चाहिए। विरह का इतना मार्मिक वर्णन करने वाले कवि को किसी वाद की छाया लेने की जरूरत नही—उसकी उच्चता स्वत.सिद्ध है। काव्य-विकास के जो परमाणु खिलकर 'आँसू' मे निखरे है, उन्हें वादो के बखेड़े मे डाल देने की हम तजवीज नही कर सकते। कवि के साथ यह अन्याय अनुचित होगा।

'आंसू' प्रसादजी की पूर्व की रचनाओ से बहुत आगे है। उसमे 'चित्राधार' की-सी हलकी, चमत्कार-चंचल दृष्टि नही है; न 'प्रेम-पथिक' का-सा 'रोमांटिक' प्रेमादर्श का निरूपण है—वह अधिक गहरी चीज है। 'आसू' कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोगशाला का आविष्कार है। 'आसू' में कवि नि.संकोच भाव से विलास-जीवन का वैभव दिखाता, फिर उसके अभाव में आंसू बहाता और अन्त में जीवन से

समझौता करता है। विलास में जो मद, जो विराट आकर्षण है उसे कवि उतने ही विराट रूपकों और उपमानों से प्रकट करता है। उसके अभाव मे जो वेदना है वही 'आसू' बनकर निकली है। इसे आप कवि का आत्म स्वीकार मान सकते हैं, जिससे बढकर काव्योपयोगी वस्तु दूसरी है ही नही। यह कहने से क्या लाभ कि यह वियोग किसी परोक्ष सत्ता के प्रति है, जब प्रत्यक्ष जीवन का यह वियोग अधिक मार्मिक और अधिक सत्य है? जब कवि किसी अत्यन्त आवश्यक सांसारिक समस्या पर अपने अन्तरतम की बाते कह रहा है, तब उसे उसी रूप मे न ग्रहण कर हम न अपने प्रति न्याय करते है न कविता के प्रति। 'आंसू' मे छायावाद कहां है? उसके वियोग-वर्णन मे? नही वह तो साक्षात् मानवीय है? क्या उसकी सम्मिलन-स्मृति मे? नही, वह तो कवि की साहसपूर्ण आत्माभिव्यक्ति है। हिन्दी मे जब किसी के पास इतनी शक्ति नही थी कि वह इस तरह की बाते कहे, तब प्रसादजी ने उन्हे कहा! यह साहस और कवि की संवेदना स्वतः ही काव्य को आध्यात्मिक ऊँचाइयो पर ले गई है। दूसरे अध्यात्म का आवरण पहनाने की इसे आवश्यकता नही।

हां, इस सम्पूर्ण वर्णन मे जो मानवीय और प्रकृत है, एक अन्तर्निहित रहस्यात्मक या आध्यात्मिक ध्वनि भी आद्यंत सुन पड़ती है, यही है 'आंसू' की रहस्यात्मकता। इसका कारण यह है कि मानवीय प्रेम या सौन्दर्य आदि 'आसू' काव्य मे केवल स्थूल प्रेम या सौन्दर्य नही है, वे प्रेम और सौन्दर्य रूप आत्मा के अंग बन गये हैं। 'आंसू' मे मानवीय प्रेम और विरह एक नवीन रहस्यात्मक दीप्ति से दीपित हैं। यही अंतर है, सूफी-प्रेम और सौन्दर्य की अभिव्यक्तियों में और प्रसादजी के प्रकृत रहस्य-काव्य मे। सूफी, प्रेम और सौन्दर्य रूप आत्मा के चित्रण को ही लक्ष्य मानकर, केवल आनुषंगिक रूप से मानव-जीवन के दृष्टान्त लेते हैं; किन्तु प्रसादजी अथवा आधुनिक छायावादी दृश्यमान् मानव-जीवन

को ही लक्ष्य मानकर उसकी अलौकिकता की झाकी देखते है। यह स्पष्ट है कि इसी कारण मानवीय मनोविज्ञान, दृश्यो, परिस्थितियों और व्यापारो की नियोजना आधुनिक छायावाद मे प्राचीन सूफी-काव्य की अपेक्षा अधिक सवल और यथार्थोन्मुख हुई है।

'आसू' सब प्रकार से एक मानवीय विरह-काव्य है। तभी उसके अन्त मे जो तात्विक निष्कर्ष है वह हमारे इस जीवन के लिए आशाप्रद और उपयोगी सिद्ध हो सकता है। सम्पूर्ण काव्य को परोक्ष विरह मानने से अन्तिम पक्तियों की मार्मिक रहस्यात्मकता का न हम अर्थ समझ सकेंगे, न रसानुभव कर सकेंगे। 'आंसू' की अन्तिम पक्तियो की शिक्षा हम पर तभी प्रभाव कर सकेगी जब हम उसे मानवीय आत्मकथा मानें। यदि वह छायावाद है तो इसी अर्थ मे कि वह मानवीय प्रेम अपने उत्कर्ष में एक अलौकिक आध्यात्मिक छाया से सम्पन्न हो उठा है। कवि की अनुभूतियों के साथ इसी रीति से न्याय किया जा सकता है।

'आंसू' के अनन्तर कुछ समय तक प्रसादजी की कविता का वैसा परिपाक कही नही देख पड़ता। 'झरना' मे कुछ अच्छी रचनाए वहुत-सी साधारण कृतियो के साथ मिली होने के कारण अच्छा प्रभाव नही उत्पन्न करती। प्रगतिशील समय के नवीन बौद्धिक प्रयोगों और उसकी निर्णयहीन अव्यवस्था मे प्रसादजी अपने को पुन. डुवा देते हैं। उनकी वाणी वहा प्रकृत रीति से कम ही झंकृत हुई है, उनके स्वर का निसर्ग उच्छ्वास वहा नही सुन पडता। इसका कारण ढूंढ़ने बहुत दूर नहीं जाना है। यह तो उनके विकास के साथ-साथ स्पष्ट देख पडता है। प्रसादजी मूलतः प्रेमरहस्य के कवि है। सामाजिक विचारणा मे वे 'मिल' की भाति व्यक्तिवादी है और सामूहिक प्रगति सम्बन्धी उन आदर्शो से अनुप्रेरित हैं जो मध्यवर्ग के बौद्धिक और औद्योगिक उत्थान के फल-स्वरूप उत्पन्न हुए थे, जिनमे स्वभावत. अल्पसख्यक उच्चवर्ग और

उसके ह्रासोन्मुख-संस्कारो के विरुद्ध नवीन जनसत्तात्मक भावों का प्राधान्य था। यूरोप में यही प्रगति 'लिबरलिज्म' के नाम से प्रसिद्ध हुई, अब और भी जनसत्तात्मक राष्ट्रों में, आवश्यक परिवर्तनों के साथ प्रचलित है। राष्ट्रीय औद्योगीकरण वर्गसंघर्ष और शोषण के कटु अनुभवो से उत्पन्न नवीन 'यथार्थवाद' का प्रसादजी के साहित्य मे केवल एक आभास मिलता है। यद्यपि प्रसादजी की मूल प्रवृत्ति 'यथार्थोन्मुख' ही है किन्त संकीर्ण अर्थ मे 'यथार्थवादी' वे नही हैं। कोरा भौतिक दर्शन और वैज्ञानिक प्रगति से आक्रान्त मनोभाव प्रसादजी में हम नही पाते।

प्रसादजी मनुष्यो के और मानवीय भावनाओं के कवि है। शेष प्रकृति यदि उनके लिए चैतन्य है, तो भी मनुष्य सापेक्ष्य है। यह विकास-भूमि यदि संकीर्ण है तो भी मनुष्यता के प्रति तीव्र आकर्षण से भरी हुई है। 'आसू' मे प्रसादजी ने यह निश्चित रीति से प्रकट कर दिया है कि मानुषीय विरह-मिलन के इंगितो पर वे विराट प्रकृति को भी साज सजाकर नाच नचा सकते हैं। यह शेष प्रकृति पर मनुष्यता के विजय का शंखनाद है। कवि जयशंकर प्रसाद का प्रकर्ष यही पर है। यही प्रसादजी प्रसादजी है। 'आंसू' मे वे वे हैं। 'झरना' मे एक विचित्र अवसाद, जो नवीन वौद्धिक अन्वेषणों और तज्जन्य संशयो का परिणाम जान पड़ता है, बहुत ही स्पष्ट है। 'प्रेम-पथिक' की आदर्शात्मक भावधारा की प्रतिक्रिया भी इसमे दिखाई देती है। यह प्रसादजी के मानसिक विकास की दृष्टि से परिवर्तन-काल की सृष्टि है, किन्तु प्रसादजी जैसे प्रतिनिधि कवि के लिए जो नवीन प्रयोगो में (सामयिक विचार-प्रवाहों के नये चक्रों मे) स्वभावतः व्यस्त रहते थे, यह कुछ आश्चर्य-जनक नही है। प्रश्न यह अवश्य है कि वे नवीन प्रयोग कौन से हैं जिनका अनिवार्य परिणाम 'झरना' है। मेरे विचार से ये वे प्रयोग है जो प्रसादजी को क्रमशः आशा और प्रमोद के लोक से हटाकर जीवन

की गम्भीर परिस्थितियो का साक्षात्कार करा रहे थे। अवश्य ही यह साक्षात्कार 'झरना' मे स्पष्ट नही है, केवल भावपरिवर्तन की झलक भर है; किन्तु कटु वास्तविकता, गम्भीर जीवनानुभव तथा स्थान-स्थान पर प्रकट होने वाली आलोकरहित प्रगाढ़ निराशा की वे प्रेरक शक्तिया भी उत्पन्न हो रही थी जिनका परिपाक हम आगे चलकर 'कामायनी' काव्य मे देखते है। यद्यपि प्रसाद जी मे मानवता, उसकी शक्ति और सम्भावना के प्रति इतनी सुदृढ़ आस्था थी कि 'कामायनी' काव्य दु:खान्त होने से बच गया, किन्तु अपने युग की सामाजिक और सांस्कृतिक असाध्य हीनताओ के प्रति प्रसादजी की विरक्ति, क्षोभ और आवर्जना, 'कामायनी' मे कम परिस्फुट नही हुई है। उन्हीं का उद्गम स्रोत हमे 'झरना' मे दिखाई देता है।

अपनी मर्मग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा मानव-प्रकृति का विश्लेपण कर प्रसादजी ने 'कामायनी' काव्य की रचना की है। इसमे मानवीय प्रकृति के मूल मनोभावो को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से पहचानकर सग्रह किया गया है। यह मनु और कामायनी की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास मे सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है। यही नहीं, यदि हम और गहरे पैठें तो मानव-प्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक भी इसमे मिलेगी। आध्यात्मिक और व्यावहारिक तथ्यों के बीच सतुलन स्थापित करने की सर्वप्रथम चेष्टा इस काव्य मे की गई है। कोई साधारण योग्यता का कवि इस कार्य में कदापि सफल नही हो सकता। इसके लिए मानवीय वस्तुस्थिति से परिचय रखनेवाली जिस मर्मभेदिनी प्रकृति की आवश्यकता है, वह प्रसादजी को प्राप्त हुई है। उन्होने अपनी प्रतिभा के बल से शरीर, मन और आत्मा; कर्म, भावना और बुद्धि; क्षर, अक्षर और उत्तम तत्वो को सुसलग्न कर दिया है। यही नही, उन्होने इन तीनो का भेद मिटाकर इन्हे पर्यायवाची भी बना दिया है। जो

मनु और कामायनी है, वही आधुनिक पुरुष और नारी भी है; यही नही, शाश्वत पुरुषत्व और नारीत्व भी वही है। एक की साधना से सबकी साधना बन जाती है। महाराज मनु ने एक बार मानव-स्वभाव की कठोर परीक्षा करके 'मनु-स्मृति' की रचना की थी। उसमे उन्होंने ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास, इन चार आश्रमो की नियोजना की थी। इस आश्रम-सस्था के मूल मे जो सुदृढ और परीक्षित मनोविज्ञान है, वह समय पाकर विस्मृत हो गया। प्रसादजी ने उसका काव्यमय रूप पुनः प्रस्थापित किया है। उसकी ओर लोगो का ध्यान अवश्य आकर्षित होगा। इस काव्य मे मनु, मानव या मनस्तत्व के स्वरूप का बौद्ध, योग तथा सांख्य आदि शास्त्रो के विश्लेषण से; वैदिक तथा पौराणिक कथाओ की अनुश्रुति पर, मनु-स्मृति का सामयिक अनुशीलन, अनुसरण और संशोधन करते हुए; आधुनिक रुचि के अनुकूल, नारी की महिमा का विशेष रूप से प्रकाश करने के लिए, उल्लेख किया गया है। मनोविज्ञान में काव्य और काव्य में मनोविज्ञान यहाँ एक साथ मिलते है। मानस (मन) का ऐसा विश्लेपण और काव्यमय निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियो के बाद हुआ है। इसीलिए मैं इस काव्य का अभिनन्दन गोस्वामी तुलसीदासजी की इन स्मरणीय पक्तियो से करता हूँ :—

अस मानस मानस चख चाही
भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही

कवि की इस 'मानस-रचना' को मन की आँखो से देखने पर प्रकट होता है कि उसमे मन की नैसर्गिक इच्छाओ और भावनाओ के विस्तार का पूर्ण अवसर देकर उसके उदात्त स्वरूप का उद्घाटन किया गया है और साथ ही एक अनुपम समरसता मे सजाकर उसे विशृंखल बनने से बचाया गया है। आप कह सकते हैं कि यह समरसता भी अपनी सीमारेखाएँ बनाकर रूढि का रूप धारण कर सकती है। सम्भव है

ऐसा हो, किन्तु इस भय से कोई कवि अपने काव्य मे आवश्यक सन्तुलन (equilibrium) की नियोजना विना किये कैसे रह सकता है ? फिर आप पूछ सकते है कि क्या वह पुरानी रूढि के स्थान पर नई रूढि का स्थापना करना नही हुआ ? इसके उत्तर मे कहूँगा कि सम्भव है ऐसा भी हो, किन्तु हम यह भूल नही सकते कि नई रूढि मे हमे नये जीवन का रस मिलता है जव कि प्राचीन रूढि मे ताजे जीवन-स्रोतो का अभाव ही नही होता, नई जीवन-धारा को अपनी कठोर शिलाओ मे दवा रखने की दुश्चेष्टा भी होती है। यह दोनो का अन्तर भी कम ध्यान देने योग्य नही। और सवसे वडी वात तो यह है कि कामायनी एकांकी और अव्यावहारिक, निर्वल तथा ह्रासोन्मुख रूढि के स्थान पर, व्यापक और वहुमुखी जीवन-दृष्टि का सन्देश सुनाती और नियोजना करती है।

'कामायनी' काव्य अपने पूर्व युग की कृतियो से अनेक विशेपताएँ रखता है। प्रथम, उसका मनोवैज्ञानिक आधार सुविकसित और प्रौढतर है तथा उसमे एक व्यापक अतर्निहित दार्शनिक निरूपण अपने लिए स्थान वना सका है। यह निरूपण प्रसाद जी की समन्वयशील विचारणा का परिणाम है। द्वितीय, कामायनी मे पूर्वयुग की नीतिवादी प्रतीक-व्यंजना के स्थान पर आनन्दवादी आध्यात्मिक व्यजना की स्थापना है। तृतीय, इसमे पूर्व युग की 'प्रवृत्ति और निवृत्ति' की वँधी हुई, आदर्शवादी लीक को तोड कर जीवन-प्रयोगो का विस्तार दिखाया गया है। यह विस्तार नवीन युग की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियो का प्रतीक है। चतुर्थ, रहस्यवाद और प्रेमाख्यानक काव्य के भीतर प्रसादजी ने नवीन सास्कृतिक निर्माण का कार्य प्रचुर परिमाण मे 'कामायनी' द्वारा दिया गया है। और पचम, केवल काव्योत्कर्प की दृष्टि से भी कामायनी का स्थान आधुनिक हिन्दी मे अत्यन्त ऊँचा है।

प्रसादजी का साहित्य सच्चे अर्थ में नवीन जीवन से सम्वद्ध है

श्रौर वह आधुनिक समस्याओं का हल भी उपस्थित करता है। वह साम्प्रतिक जीवन का उन्नायक है। उनका नाटक-साहित्य इतिहास और 'रोमास' के भीतर से नई सांस्कृतिक जागृति मे सहायक हुआ है। यह बात साहित्य के विद्यार्थियो से छिपी नही है कि पश्चिमी सांस्कृतिक उत्थान ('रिनेसा') के प्रभातकाल मे भी ऐसी ही प्रवृत्तियाँ साहित्य मे दिखाई दी थी। प्रसादजी की आख्यायिकाएँ या छोटी कहानियाँ कोमल, कल्पना-विशिष्ट किन्तु उत्थानमूलक भावनाओ से भरी पड़ी है। उनके दोनो उपन्यासो में एक (कंकाल) रुढ़िवद्ध जाति-प्रतिष्ठा के विरुद्ध और दूसरा (तितली) उच्चवर्गीयता के विरुद्ध आन्दोलन करता है। तितली के नायक और नायिका दोनों ही श्रमिक वर्ग के है और यद्यपि वे कम्युनिस्ट लेखको के इस श्रेणी के चरित्रो की भाँति कर्कश, संघर्षमय और घृणाभिभूत नही है, फिर भी अपनी वर्गचेतना से रिक्त नही है और भारतीय श्रमिक की संस्कारी परम्पराओ से युक्त है। और प्रसादजी का काव्य, चाहे उसे छायावाद कहिए या रहस्यवाद, मानवीय भूमि पर ही खड़ा हुआ है। अपने काव्य के लिए जो कतिपय दार्शनिक उद्भावनाएँ उन्होने की हैं, उनसे यह आभास मिल जाता है कि प्रसादजी शक्ति और आनन्द की ऊँची मानसिक अभिव्यक्ति को ही काव्य का मुख्य लक्ष्य मानते है। मैं यह नही कहता कि प्रसादजी की रचनाओ में कही मानसिक शैथिल्य, खुमारी या ऐन्द्रिय विकार है ही नही, कतिपय क्षणो मे उन्होने जीवन-संघर्ष के प्रति भीरुता या पलायन का भाव भी प्रकट किया होगा, किन्तु उन्हे हम अपवाद-स्वरूप ही मान सकेंगे।

अवश्य प्रसादजी का साहित्य 'रोमैन्टिक' या कल्पना-प्रधान श्रेणी मे रक्खा जायगा, किन्तु रोमान्स के अन्तर्गत प्रगतिशील साहित्य भी आ सकता है और ह्रासशील भी। रोमैन्टिक नाम से ही कुछ-का-कुछ समझ बैठना ठीक नही। हमे साहित्य की परीक्षा उसमे निहित मनो-

भावना से ही करनी होगी। जो 'प्रगतिशील' महानुभाव केवल ऊपरी दृष्टि से जीवन और साहित्य का ऐक्य देखना चाहते है, जो साहित्य की भावनात्मक गहराई मे नही पैठना चाहते, जिनके लिए साहित्यिक प्रगति की पराकाष्ठा 'लाल तारा' तक पहुँचकर रह गई है और जो स्वभावत: 'रोमान्स' नाम से ही नफरत करने लगे है (मैं कह सकता हूँ उनमें से वहुतों की नफरत केवल कागजी है) उन्हे मैं साहित्य का समीक्षक मानने से इन्कार करता हूँ। उन्हे चाहिए कि वे राजनीतिक गुटवन्दी के भीतर ही अपने विचारो का आदान-प्रदान किया करें।

यहाँ मैं उन असाहित्यिक प्रगतिवादियों के लिए उन्ही के एक गुरुदेव की सम्मति का कुछ अंश उद्धृत करूँगा जो उन्होने एक शताब्दी पूर्व के 'रोमान्स' वादी कवि 'स्काट' के सम्वन्ध मे दी थी। ये उनके गुरुदेव साहित्यिक क्षेत्र से अधिक सबध नही रखते फिर भी इनकी मम्मति काफी निष्पक्ष है। आप (मेरा मतलव महाशय हैवलक एलिस से है) लिखते है :—

"Scott's work is the outcome of a rich and generous personality endowed with an eager imaginative receptivity. When he appeared, he brought into the world what was, in effect, with all its imperfections, a new vision of the panorama of human life on earth. It has ceased to thrill by its novelity. But when it appeared, it appealed mightily to grown men and women and influenced the course of literature everywhere. Half a century ago it was still a paradise for the young. And now?

Well, it remains a source of joy if you have the fine thirst to drink there.

Today, I view Scott with more balancéd judgment. His faults were many and his inequalities disconcerting : but the same may be said, I find, of the very different virtues and vices of the most modern men, D. H. Lawrence or whom you will."

यह तो हुई 'स्काट' की वात। प्रसादजी तो उसकी अपेक्षा वहुत आधुनिक है। वे कोरमकोर रोमासवादी भी नही, वे रहस्यवाद के ऊँचे समतल पर पहुचते है और सवलतर भावना की सृष्टि करते है। मै तो 'अध्यात्म' शब्द से नही घवडाता क्योकि मैंने 'अध्यात्म' का लेवल लगा हुआ उच्च काव्य पढा है किन्तु जो इस नाम से ही इसे जीवन के वाहर की वस्तु समझ लिया करते हैं उनके आश्वासन के लिए मैंने कहा है कि प्रसादजी का रहस्यवाद अथवा उनकी आध्यात्मिक अनुभूति मानव-जीवन-व्यापार की नीव पर ही खडी है। आप नीव भी देख सकते है और प्रासाद भी (तव सम्भवत. आप प्रासाद को केवल आकाश की वस्तु समझना छोडें)। प्रसाद जी ने अपने काव्य की मानवीय नीव इसलिए स्पष्ट रूप मे दिखाई है कि आध्यात्मिक उच्च भावना का व्यावहारिक या मनोवैज्ञानिक पहलू भी हम देख ले। विना इसे देखे आज के पाठक को शायद सन्तोष न हो।

ऊपर मैंने प्रसादजी के काव्य की मानवीय नीव की वात कही है। आजकल जहा देखिए वहा मानवीय शब्द की भरमार हो रही है। सभी अपने काव्य को मानवीय करार देना चाहते हैं। फलत. 'मानवीय' शब्द इतना अनेकार्थी हो गया है कि उसे हम निरर्थक भी कह सकते है। वहुत-से लोग मैथिलीशरणजी के काव्य मे मानवता का निरूपण

देखते हैं। अवश्य, उसे हम अमानवीय नही कह सकते, पर वह एक प्रकार की आश्रमवासिनी मानवता है। आश्रम-वासी की सारी पवित्रता और सम्पूर्ण सरलता उसमें है। किन्तु उनका काव्य आधुनिक जीवन-व्यापी संघर्ष से अनाक्रान्त और अपरिचित है। वे आज के साहित्यिक को उपदेश देते है कि वह दीन-दुखियो का कष्ट देखे और उसका प्रदर्शन काव्य मे करे। गुप्तजी शायद इस बात से सुपरिचित नही कि आज के साहित्यिक कर क्या रहे है ! गुप्तजी एक युग पहले का मध्यवर्गीय सन्तोष हमे सिखाते है, उन्हें आज की आग का अन्दाज़ नही है।

गुप्तजी की मानवता और उसकी समस्त भावना और संस्कारो से भिन्न प्रसादजी की मानव-कल्पना है। प्रसादजी दार्शनिक और भावनात्मक दृष्टियो से मानव को जीवन-संघर्ष के लिए उद्यत कर देते हैं। वे कही कृत्रिम सन्तोष का पाठ नही पढाते। प्रसादजी नारी और पुरुष को समता और सहकारिता के सूत्र में बांधकर एक संघटित मोर्चा तैयार करते है (उनकी आख्यायिकाओ मे यह सूत्र हमें मिलता है और 'तितली' मे मोर्चा तैयार है।) प्रसादजी का मानव, धर्म की रूढियो से छूटकर, आत्मा की अमरता की सीख लेता है और खुली आंखों सासारिक स्थिति को देखता है। व्यक्तिगत सुख-दु ख से ऊपर उठानेवाली आध्यात्मिकता और रहस्यभावना का प्रयोग जीवन से पराङ्मुख करने का साधन क्यो माना जाय ? गीता मे यही निरूपण अर्जुन को महाभारत के संघर्ष के लिए तैयार कर सका था।

जो लोग दु.ख और अभाव की समस्या का वैज्ञानिक समाधान चाहते है वे इस आध्यात्मिक हल को कोई हल नही मानते। वे प्रत्यक्ष तथ्यवादी उल्टा इसे असली प्रगतिशील समाधान को दूर घसीटनेवाला क़रार देते है। असली प्रगतिशील समाधान है ६० प्रतिशत समस्याओं के लिए वर्गसंघर्ष और क्रांति, सामाजिक विधिनिषेधो का परित्याग और नवीन प्रयोग। प्रसादजी का रहस्यवाद, चाहे उसे 'आंसू' के पद्यों

मे देखिए अथवा 'कामायनी' के अन्तिम सर्ग में, मानसिक सन्तुलन के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। 'गीता' में भी रहस्यवाद या आध्यात्मिक समाधान सासारिक द्वन्द्व का प्रेरक ही सिद्ध हुआ है। हमे किसी वस्तु से न चिढ़कर उसके प्रयोग की परीक्षा कर देखनी चाहिए। तभी हम रचनाकार का ठीक उद्देश्य समझ सकेंगे।

रचनाकार की समसामयिक स्थिति से भी हमें अपरिचित नही रहना चाहिए। प्रसादजी मुख्यत: साम्य, सख्य और स्वातन्त्र्य (equality liberty and fraternity) के कल्पनाशील आदर्शवाद से अनुप्रेरित थे। फिर भी उन्होने एक भविष्य-द्रष्टा की भांति आगामी वर्ग-सघर्ष का आभास दिया है। उन्होने एक कल्पनाप्रवण, सहानुभूतिशील और अग्रगामी मध्यवर्ग के चित्रण से आरम्भ कर श्रमिक दम्पति के चरित्रनिर्माण तक अपना कथानक साहित्य पहुँचा दिया है। कामायनी काव्य मे उन्होने एकागी भौतिक प्रगति और संघर्ष का विरोध अवश्य किया है, किन्तु इस सम्बन्ध में हमे आगे कुछ और कहना है। यहाँ इतना ही कहेगे कि प्रसाद जी कम्युनिस्ट उपचारो को कट्टरपन के साथ ग्रहण नही करते, किन्तु अपने युग की प्रगति मे वे पिछड़े हुए नही थे।

इस प्रश्न को इस हद तक बढाना इसलिए आवश्यक था कि आजकल 'रोमास' और 'रहस्यवाद' का नाम देकर प्रसादजी के साहित्य के प्रति विरक्ति उत्पन्न की जाती है। यह विरक्ति अस्पृश्यता की सीमा तक पहुँच जाती है और हम प्रसादजी का वास्तविक ऐतिहासिक मूल्य आंकने से भी विरत रह जाते हैं। कुछ लोग तो साहित्यिक और कलात्मक उत्कर्ष की ओर ध्यान न देकर जीवनमय चरित्रों के निर्माण से बहुत दूर रहनेवाले वर्गवादी साहित्य स्रष्टाओं को अतिरंजित महत्व देने लगे है। ये लोग अपने को साहित्य और जीवन का समन्वयकारी समझते हैं, किन्तु इन्हे यह पता नही कि साहित्य मे जीवन केवल कुछ

सद्धान्तिक नुस्खो और कुछ चुने-चुनाये वाक्यांशो को नही कहते, उसकी और भी गहरी सत्ता है। इन लोगो को यह भी मालूम नही कि साहित्य के भीतर प्रगतिशील जीवन की सृष्टि कैसे की जाय। राजनीतिक प्रगतिशीलता का काम नुस्खो से चल सकता है, पर साहित्यिक प्रगतिशीलता जीवन की गहराई में विना प्रवेश किये नही आती। फल यह होता है कि राजनीतिक सिद्धान्तवादी अपने नपे-तुले नुस्खे न देखकर प्रौढ, जीवनमय साहित्य का निर्माण करनेवाले साहित्यिको के प्रति नाक-भौह सिकोड़ लेते हैं और इस प्रकार साहित्य मे जीवन के सन्निवेश की समस्या को गहरी गलतफहमियो मे डुवो देते है। यदि मुझे क्षमा किया जाय तो मैं कहूगा कि पुराने और नये कितने ही समीक्षक हिन्दी मे आज इसी पिछली प्रणाली का अनुसरण कर रहे हैं।

कला और साहित्य मे प्रगतिशील निर्माण की समस्या उस प्रगतिशीलता से विलकुल भिन्न है जिसे हम एक नवीन दार्शनिक सिद्धान्त या उपचार के रूप मे जानते हैं। दोनो को एक ही लाठी से नही हांका जा सकता। साहित्य मे जीवन की वास्तविक रचना करनी होती है, अत उसकी प्रगतिशीलता की माप जीवन-निर्माण की सफलता और असफलता के आधार पर होगी। साहित्य मे प्रगतिशीलता का स्वरूप सिद्धान्त-निरूपण और नपे-तुले हलो द्वारा नही जाना जायगा। उसमें तो भावना का उद्रेक, उच्छ्वास, परिष्कृति और प्रेरकता ही मुख्य मापदण्ड होंगे। जीती-जागती वहुरूप जीवन-परिस्थिति का प्रदर्शन उसके लिए आवश्यक है। साहित्यकार वाध्य नही है कि वह प्रगतिशील नामधारी एक दार्शनिक उपक्रम का अनुगामी हो। यदि उसने पतनोन्मुख समाज के जीवन चित्र हमारे सामने उपस्थित किये हैं और यदि वे अपना ईप्सित प्रभाव हम पर छोड़ जाते है तो हम उस कलाकार को अप्रगतिशील नहीं कहेगे।

प्रसादजी तो विकासशील और उदार सामाजिक प्रवृत्तियो के

निरूपक है। उनकी साहित्य-सृष्टि एक आशावादी और स्वातन्त्र्य-प्रेमी युग की प्रतिनिधि है। साहित्यिक अर्थ में उनका साहित्य सर्वथा प्रगतिशील है।

मैथिलीशरणजी जिस पूर्व-युग के प्रतिनिधि हैं, उससे भिन्न युग की काव्यसृष्टि प्रसादजी की है, इस बात की पुष्टि के लिए दोनो की दो-चार चुनी हुई रचनाओ की बानगी देख लेना काफी होगा। गुप्तजी की प्रतिनिधि रचनाओ का चुनाव प्रोफेसर अमरनाथ झा जी ने एक स्थान पर कर दिया है, इससे हमारा काम और भी सरल हो गया है। गुप्तजी की शैली का विकास उन्होने इन उद्धरणो मे दिखाया है—

अहा ग्राम्यजीवन भी क्या है क्यो न इसे सबका मन चाहे।
थोड़े मे निर्वाह यहाँ है, ऐसी सुविधा और कहा है?

... ...

वे मोह-बन्धन-मुक्त थे, स्वच्छन्द थे, स्वाधीन थे।
सम्पूर्ण सुख-सयुक्त थे, वे शान्ति-शिखरासीन थे।।

... ...

मन से, वचन से, कर्म से, वे प्रभु-भजन में लीन थे।
विख्यात ब्रह्मानन्द नद के, वे मनोहर मीन थे।।

... ...

ये गगनचुंबित महाप्रासाद, मौन साधे है खड़े सविषाद।
शिल्प-कौशल के सजीव प्रमाण, शाप से किसके हुए पाषाण।
या खड़े हैं मेटने को आधि, आत्म-चिन्तन रत अचल ससमाधि।
किरणचूड़ गवाक्ष लोचन मीच, प्राण से ब्रह्माण्ड मे निज खींच।

... ...

प्रिय क्या भेट धरूँगी मैं।
यह नश्वर तनु लेकर कैसे स्वागत सिद्ध करूँगी मैं।

नश्वर तनु पर धूल किन्तु हां उन्ही पदो की धूल,
कर्मवीज जो रहे मूल मे उनके सव फल-फूल,
अर्पण तुम्हे करूंगी मै, प्रिय क्या भेट धरूंगी मैं।

... ...

अव यदि इन्हे हम औसत तौर पर गुप्तजी की प्रतिनिधि रचना मान लें, तो हम देखेंगे कि इनमे एक विनयपूर्ण सीधा-सादा आदर्शवाद जिसमे आरम्भिक राष्ट्रीयता का मीठा-मीठा स्पन्दन है, कल्पना की ऊंची उडानो से रहित अनुभूति, द्वन्द्वरहित भाव और एकहरी अभिव्यक्ति है। इसमे किसी जीवनतत्व का वैषम्य, आलोडन-विलोड़न, सशय और तज्जनित भावोत्कर्ष आयोजित नही है। सीधा रास्ता सीधी समस्या और सीधा समाधान। किन्तु जैसा कि मैं कह चुका हूँ, यह सिधाई आश्रम-वासिनी सिधाई है। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ प्रेमचन्दजी की भी सफलता इसी प्रकार की सीधी समस्याओ के समाधान मे है जो छोटी कहानियो मे समा सकी है। कहानियो के निर्माण मे साधारण उत्थान-पतन, भावो का आरोह-अवरोह, स्थितियों का वैचित्र्य दिखा सकना ये प्राथमिक सफलताएं उनकी है। वडे जीवनचक्रो को हाथ मे लेना, पेचीदा भावधाराओ और सास्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप उठी हुई जटिल समस्याओ का निरूपण करना, व्यक्ति, देश और जाति के जीवन के वृहत् छाया-आलोको को उद्‌घाटित कर सकना, साराश यह कि जीवन के गहरे और वहुमुखी घात-प्रतिघातो और विस्तृत जीवन-दशाओ मे पद-पद पर आनेवाले उद्वेलनो को चित्रित करना, उन्हे सभालना और अपनी कला मे उन सवको सजीव करना गुप्तजी और प्रेमचन्दजी की साहित्य-सीमा के वाहर है। प्रसादजी की अनुभूति तथा सूझ अधिक गहरी और उनकी कलात्मक प्रतिभा अधिक ऊची अवश्य है, यद्यपि मैं यह नही कहता कि उन्होने युग-जीवन के उद्‌घाटन मे सम्पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

प्रसादजी की रचनाओ से भी मैं चार ही पाँच उद्धरण दूंगा :—

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे,
जब सावन-घन सघन बरसते इन नयनों की छाया भर थे ।

... ...

अरुण यह मधुमय देश हमारा ।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा ।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर ।
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा ।

... ...

वह सारस्वत नगर पड़ा था क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना ।
जिसके ऊपर विगत कर्म का, विष-विषाद आवरण तना ।
उल्काधारी प्रहरी से ग्रह तारा नभ मे टहल रहे ।
वसुधा पर यह होता क्या है, अणु-अणु क्यो है मचल रहे ।
निशिचारी भीषण विचार के पंख भर रहे सर्राटे ।
सरस्वती थी चली जा रही खीच रही सी सन्नाटे ।

... ...

मै रति की प्रतिकृति लज्जा हू, मैं शालीनता सिखाती हूं ।
मतवाली सुन्दरता पग मे नुपूर-सी लिपट मनाती हू ।
लाली बन सरल कपोलो मे, आँखो मे अजन-सी लगती ।
कुचित अलको सी घुघराली मन की मरोर बनकर जगती ।
चंचल किशोर सुन्दरता की, मैं करती रहती रखवाली ।
मै वह हलकी-सी मसलन हू, जो बनती कानो की लाली ।

... ...

तुम कनक किरण के अन्तराल मे, लुक-छिप कर चलते हो क्यो ?
नत मस्तक गर्व वहन करते, जीवन के घन रसकन ढलते ।
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो, मौन बने रहते हो क्यो ?

ये प्रसादजी की औसत रचना के उदाहरण है और गुप्तजी के उद्धृत अवतरणों से मिलते-जुलते विषयों पर चुने गए है। पाठक देखेंगे कि इनमे एक नई कल्पनाशीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानसवृत्तियो की सूक्ष्मतर और प्रौढ़तर पकड़, एक विलक्षण अवसाद, विस्मय, संशय और कौतूहल जो नई चिन्तना का सूक्ष्म प्रभाव है, प्रकट हो रहा है। ये ही काव्य मे छायावाद के उपकरण वनकर आये। इस नवीन प्रवर्तन के मूल मे एक स्वातंत्र्यलालसा, शक्ति की अभिज्ञता और सांस्कृतिक द्वन्द्व की एक अनिर्दिष्ट स्थिति देख पड़ती है। ये सभी एक कल्पना-विशिष्ट दर्शन के अंग वने हुए है जिसमे बड़ी व्यापक सहानुभूतिया है। इस नवीन दर्शन मे कल्पना, भावना और कर्मचेतना की सम्मिलित झांकी है। इसे अकेले कर्म-संघर्ष से सम्भूत दर्शन हम नही कह सकते। यह उसका पूर्वरंग अवश्य कहा जायगा। इसमे कल्पनात्मक और भावनात्मक प्रवृत्तियो को प्रमुखता दी गई है। 'कामायनी' काव्य मे इड़ा के प्रतीक द्वारा जिस संघर्ष-प्रधान, कर्मप्रमुख जीवन उपक्रम का प्रदर्शन कराया गया है, उसकी पूर्ण स्वीकृति न तो 'कामायनी' मे है और न छायावाद काव्य मे ही। किन्तु गुप्तजी की ऐकान्तिक आदर्शवादिता और सीधी-सादी भावव्यजना के कई कदम आगे वह अवश्य है।

इस छायावाद को हम पंडित रामचन्द्र शुक्लजी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नही मान सकेंगे। इसमे एक नूतन सास्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।

प्रसादजी के साहित्य की दार्शनिक सीमा-रेखा और भी स्पष्ट हो जाय इस दृष्टि से हम कामायनी काव्य मे आये हुए श्रद्धा और इडा के प्रतीको को नये सिरे से आपके सम्मुख रखना चाहेंगे। कामायनी काव्य

मे दो पीढियो के चार चरित्र है। पहली पीढी मनु और श्रद्धा की है जो काव्य के नायक-नायिका है और दूसरी पीढ़ी श्रद्धा-पुत्र और इडा की जोड़ी बनकर चलती है। इन दोनो पीढियों मे कुछ हद तक खीचतान भी है। मनु को सारस्वत या बौद्ध प्रदेश का पुनरुत्थान करने मे लगाकर फिर उसके दुष्परिणामों से उन्हें अभिभूत कर दिया जाता है। प्रसादजी अपने काव्य का अधिनायकत्व श्रद्धात्यागी और इड़ा-सेवी मनु को नही देते, वे उसे रास्ते पर लाते है। फिर दूसरी पीढी में उनकी सन्तति भी श्रद्धा और बुद्धि के सम्मिलित योग से नवीन जीवन क्रम चलाती है।

वन्य या ग्राम्यजीवन से आरम्भ होकर कामायनी काव्य की प्रगति नागरिक सभ्यता और नवीन औद्योगिक आयोजनो तक होती है। प्रसादजी यद्यपि यह स्वाभाविक विकास दिखाने मे अपनी सूक्ष्म प्रतिभा का परिचय देते हैं किन्तु वे औद्योगिक सघर्ष को यथार्थ और अनिवार्य रूप मे नही लेते। वे उससे उत्पन्न होने वाले द्वन्द्व का समाधान करने के लिए श्रद्धा-पुत्र को छोड़ जाते हैं, इससे स्पष्ट है कि वे श्रद्धा और बुद्धि दो वस्तुओ के सन्तुलन मे इस समस्या का समाधान देखते है।

मैंने कामायनी की आलोचना मे यह दिखाने की चेष्टा की है कि उनकी दृष्टि समन्वय चाहती है और वे संघर्षात्मक जीवन दर्शन के अनुयायी नही है। अब, मेरे सहृदय और विचक्षण काव्यपारखी मित्र श्री इलाचन्द्र जोशी श्रद्धा और इड़ा के प्रतीकों द्वारा व्यजित दो जीवन दृष्टियों को विरोधी शिविरों मे रखते है और श्रद्धा को अति-शय कल्याणी या अनन्त करुणामयी, मगल अभिषेकमयी आदि कहकर ग्रहण करते हैं, और इड़ा को उन्मत्त-लालसा प्रज्वालिनी, अनन्त अतृप्ति-प्रदायिनी आदि रूपो मे देखते है। किन्तु इसी 'उन्मत्त-लालसा-प्रज्वालिनी' को मनु अपने पुत्ररत्न की सहचरी बनाते हैं। स्पष्ट है कि प्रसादजी सभ्यता के इस बुद्धिवादी विकास को लाछित नही करते

न उसकी वास्तविकता से आंखें मूँदते है, किन्तु वे एक समन्वय-सूत्र हमारे सामने रखना चाहते है।

इस सम्बन्ध में मुझे अपने मित्र हिन्दी के सुपठित मनोविश्लेषक और काव्या-लोचक श्री नरोत्तमप्रसाद नागर की उद्भावना अधिक उपयुक्त प्रतीत हुई। वे पूछते है, श्रद्धा करुणामयी कहाँ है—जबकि वह इतनी असहनशील है? इडा यदि नारी होने के कारण ही उन्मत्त लालसा प्रज्वालिनी हो तो इसमे उसका क्या दोष? और श्रद्धा का भी यही स्वरूप (बल्कि इससे अधिक उन्मत्त लालमामय) पुस्तक के प्रारम्भिक सर्गो मे देखा जा सकता है। इड़ा तो मनु को सच्छिक्षा ही देती है, उस वेचारी का अपराध क्या है?

मनु और इड़ा के सम्वन्ध को प्रसादजी ने मनुपुत्र और इड़ा के सम्बन्ध में परिणत कर दिया है। इससे इड़ा का त्याग नही, ग्रहण ही सिद्ध होता है। हा, प्रसादजी का मनु को श्रद्धा के साथ एकान्त मानस प्रदेश की ओर ले जाना और वहां भांति-भाति के दृश्यो के वीच 'कर्म' 'भावना' और 'चेतना' के तीन गोलक दिखाना तथा उनके वैषम्य को मिटाकर उन्हे समन्वित कर देना प्रसादजी के समन्वयवाद का द्योतक है। वैज्ञानिक प्रगतिवाद की दृष्टि से प्रसादजी यही प्रवृत्तिमूलक वैज्ञानिक और वौद्धिक विचारधारा से पृथक् हो गये है। किन्तु मेरा यह कहना है कि वुद्धि की अति और उसके अवश्यम्भावी विकारो का ही प्रतिषेध प्रसादजी ने किया है और यह उनकी मूल आध्यात्मिक विचारणा के अनुकूल ही है।

वैज्ञानिक संघर्षात्मक प्रवृत्ति-दर्शन ही आधुनिक प्रगतिशील साहित्य के मूल में है। प्रसादजी इस दर्शन के साथ सारी दूरी तक नही जाते किन्तु इस कारण कोई उन्हे अप्रगतिशील नही कह सकता। साहित्य मे उन्होंने जागृति की मनोरम और प्रगतिमयी भावनाओ का ही

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

यदि सामयिक हिन्दी मे कोई ऐसा विषय है जो अन्य सब विपयो की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट और दुरूह समझा जा सके तो वह पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का विकास है। इस कवि के व्यक्तित्व और काव्य के निर्माण मे ऐसे परमाणुओ का सन्निवेश हुआ है जिनका विश्लेपण हिन्दी की वर्तमान धारणा-भूमि मे विशेष कठिन क्रिया है। हिन्दी-भाषी जनता के साहित्यिक ज्योतिषियों ने कहानीवाले सात अन्धे भाइयो की भाति, भांति-भांति से हाथी की हास्यविस्मय-भरी रूप-रेखाएं बखान की जिससे 'निराला' जी की अपेक्षा समीक्षको की निराली सामुद्रिक का ही परिचय मिला। जहाँ तक हमारी जानकारी और अध्ययन है हम निरालाजी के विकास के मूल मे भावना की अपेक्षा वुद्धितत्व की प्रमुखता पाते हैं। यह उनके दार्शनिक अध्ययन का परिणाम है या उनके मानसिक संगटन का नैसर्गिक स्वरूप, यह हम नही कह सकते। श्री जयशकर प्रसाद की कविता मे भी यह बौद्धिक विशेषता पाई जाती है, परन्तु 'निराला' जी के साहित्य मे तो यह स्पष्टतः एक बड़ी मात्रा मे है। प्रसादजी की जिन जिज्ञासाओं का उल्लेख हम 'चित्राधार,' 'प्रेम-पथिक' आदि की समीक्षा के प्रसग मे कर चुके है उनमे केवल वुद्धि धर्म ही नही कल्पना आदि भी उपस्थित हैं, पर 'निराला' जी की अनेक कविताओ मे केवल बौद्धिक उत्कर्प अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ मिलता है। 'निराला' जी की कुछ रचनाओ में तो सम्पूर्ण वर्णन और वातावरण ऐसा है जो परिपाटीवद्ध काव्यालोचक की आस्वादसीमा के बाहर है। यह आलोचक की त्रुटि है, या निरालाजी की वे रचनाए साहित्य की परिभाषा में ही नही आती, यह निर्णय कौन करेगा ?

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

आधुनिक काव्य :
रचना और विचार

विन्यास किया है, उषाकाल की प्रभाती ही गाई है, कल्पना का प्रयोग नवीन शक्ति और नव सौन्दर्य की सृष्टि मे ही किया है। मै कह चुका हूँ कि साहित्यिक प्रगति और दार्शनिक प्रगतिवाद दो भिन्न वस्तुएँ हैं और यह आवश्यक नही कि साहित्य किसी विशेष दार्शनिक मतवाद से बंधकर ही प्रगतिशील कहलाये। इतना कहने के पश्चात् यह स्वीकार करने में हमे कोई आपत्ति नहीं है कि प्रसादजी ने नवीन संघर्ष से उत्पन्न भौतिक विकासवादी दर्शन को सम्पूर्ण स्वीकृति नही दी है। संक्षेप में प्रसादजी की साहित्यिक और दार्शनिक स्थिति यही है।

अब प्रसादजी की शैली, वस्तु-संघटन और कथानिर्माण के पक्ष पर दो शब्द कहकर मैं इस निबन्ध को समाप्त करूँगा। इस सम्बन्ध में अधिकांश समीक्षको का कथन रहा है कि उनकी शैली जटिल और दुरूह है तथा उनका वस्तु-विन्यास शिथिल और बोझीला है। उनके नाट्यसमीक्षक श्री कृष्णानन्द गुप्त ने इस विषय की विशेष शिकायत की है। कृष्णानन्द जी यदि इब्सन या डी० एल० राय की शैली के प्रभाव से मुक्त होकर प्रसादजी की नाट्य-शैली की स्वतन्त्र परीक्षा करते तो अधिक अच्छा होता। प्रसादजी की भाषा और अभिव्यक्ति मे जटिलता उन्हे अधिक दीखी है जिन्हे यह नही दीखा कि प्रसादजी किन नवीन समस्याओ के सम्पर्क मे थे और किस नवीन विचारणा तथा भावलोक का निर्माण कर रहे थे और इस कार्य मे उनकी कठिनाइयाँ कितनी थी। फिर क्रमविकास की दृष्टि से भी उन्होने प्रसादजी की परीक्षा नही की। क्रमश: प्रसादजी भाषा के सारल्य और भावो के नैसर्गिक निर्माण और उत्कर्ष की ओर बढते गये है, यह भी उन्हे देखना चाहिए। कथानक के कलात्मक निर्माण के सम्बन्ध मे हम इतना ही कहेंगे कि प्रसादजी अपने समसामयिक हिन्दी रचनाकारो के समकक्ष हैं। यदि उनमे बहुत बड़ी 'इंजीनियरिंग' करामात हमे नही मिलती तो हम स्मरण रक्खेंगे कि वे किन नवीन प्रयासों में व्यस्त थे और हमे यह

भी नही भूलना होगा कि प्रसादजी नई कलाप्रणाली की अपेक्षा नई भावना और नई चिन्तना के निर्माणकार्य मे अधिक संलग्न थे। साथ ही हम यह भी कहेगे कि नई भावधारा आरम्भ मे पाठको के लिए विचित्र और बेपहचान होती है। वे शिकायत करने लगते है भाषा की और उसकी जटिलता की। क्रमशः वह शिकायत घटती जाती है और हम उस भावधारा को अपना लेते हैं। तब भाषा और शैली सम्बन्धी आरोप भी कम हो जाते है। यही बात प्रसादजी के समीक्षकों के सम्बन्ध मे भी चरितार्थ हुई है।

किन्तु इसका यह आशय नही कि हम प्रसादजी की त्रुटियो पर लीपापोती करें और उनके ऐसे गुणो की स्थापना करें जिनका अस्तित्व नही है। उनके गुणों को बढा-चढाकर उपस्थित करना भी अनुचित होगा। वे जितने हैं और जो कुछ है, हमे उतने से ही प्रयोजन है उतने गुणो मे भी वे महान् और युग-प्रवर्तक सिद्ध हैं। 'ककाल' की कथा-रचना मे वहुतो को शिकायत है कि प्रसादजी ने अपने कुछ विचारों को व्यक्त करने के लिए ही यह कथा रची है, इसलिए कथा की दृष्टि से वह सफल नही हो पाई। चरित्रों का निर्माण इसी कारण यथेष्ट सजीव नही हो पाया। सम्भव है ये त्रुटियाँ किसी हद तक 'ककाल' में हो (यद्यपि चरित्र-निर्माण के सम्बन्ध मे मैं यह नही कह सकूँगा कि वे सजीव नही है) किन्तु ये त्रुटियाँ उन सभी साहित्यकारो मे किसी-न-किसी मात्रा मे पाई जाती है जिनका उद्देश्य मुख्यत: नई सांस्कृतिक विचारधारा का साहित्य मे प्रवेश कराना होता है। ऐसे थोडे कलाकार मिलेंगे जो कथा के कलात्मक निरूपण, चरित्र निर्माण और विशिष्ट चिन्ताधारा के सन्निवेश मे समान रूप से सफल हुए हो। प्रसादजी को जितनी सफलता इस कार्य मे मिली है वह अपने मे कम नही है। समय को देखते हुए, हिन्दी के विकास की उस अवस्था मे, वह बहुत ही कही जा सकती है।

———

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

यदि सामयिक हिन्दी में कोई ऐसा विषय है जो अन्य सब विषयों की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट और दुरूह समझा जा सके तो वह पं० सूर्य-कान्त त्रिपाठी 'निराला' का विकास है। इस कवि के व्यक्तित्व और काव्य के निर्माण मे ऐसे परमाणुओ का सन्निवेश हुआ है जिनका विश्ले-षण हिन्दी की वर्तमान धारणा-भूमि मे विशेष कठिन क्रिया है। हिन्दी-भाषी जनता के साहित्यिक ज्योतिषियो ने कहानीवाले सात अन्धे भाइयो की भांति, भांति-भांति से हाथी की हास्यविस्मय-भरी रूप-रेखाएं बखान की जिससे 'निराला' जी की अपेक्षा समीक्षकों की निराली सामुद्रिक का ही परिचय मिला। जहाँ तक हमारी जानकारी और अध्ययन है हम निरालाजी के विकास के मूल में भावना की अपेक्षा बुद्धितत्व की प्रमुखता पाते हैं। यह उनके दार्शनिक अध्ययन का परिणाम है या उनके मानसिक सगटन का नैसर्गिक स्वरूप, यह हम नहीं कह सकते। श्री जयशंकर प्रसाद की कविता मे भी यह बौद्धिक विशेषता पाई जाती है, परन्तु 'निराला' जी के साहित्य मे तो यह स्पष्टतः एक वड़ी मात्रा मे है। प्रसादजी की जिन जिज्ञासाओ का उल्लेख हम 'चित्राधार,' 'प्रेम-पथिक' आदि की समीक्षा के प्रसग में कर चुके है उनमे केवल बुद्धि धर्म ही नही कल्पना आदि भी उपस्थित है, पर 'निराला' जी की अनेक कविताओं मे केवल बौद्धिक उत्कर्ष अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ मिलता है। 'निराला' जी की कुछ रचनाओ मे तो सम्पूर्ण वर्णन और वातावरण ऐसा है जो परिपाटीवद्ध काव्यालोचक की आस्वादसीमा के बाहर है। यह आलोचक की त्रुटि है, या निरालाजी की वे रचनाएं साहित्य की परिभाषा मे ही नही आती, यह निर्णय कौन करेगा ?
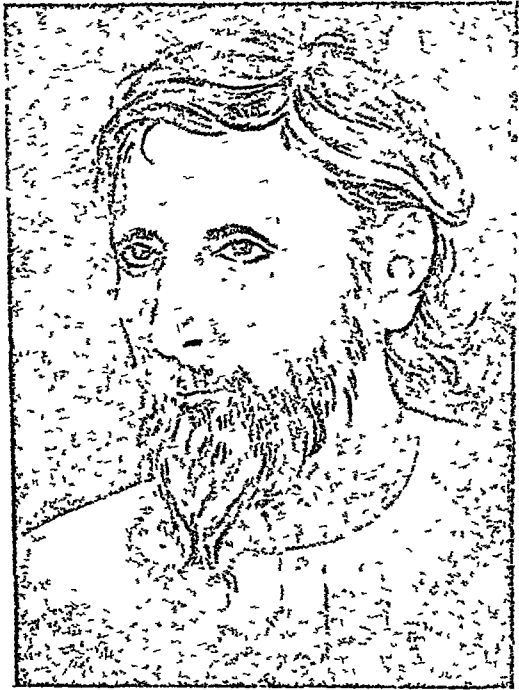
श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

आधुनिक काव्य :
रचना और विचार

यदि हमें निर्णय करना हो तो हम साहित्य-कला का विस्तार कदापि संकुचित करने को सहमत न होगे। काव्य मे बुद्धितत्व के लिए भी स्थान है, भावना के लिए भी, कल्पना के लिए भी। जिस किसी कृति मे ओजस्विता हो, प्रवाह हो, जिसका प्रभाव हम पर पड़े उसमे काव्य की प्रतिष्ठा मानी ही जायगी। यदि रस सिद्धान्त के व्याख्याताओ मे आज इतनी व्यापकता नही है तो उन्हें व्यापक वनना होगा। आधुनिक युग प्रत्येक दिशा मे नई काव्यसामग्री का सग्रह करने को कटिवद्ध है। 'निराला' जी का एक अत्यन्त बुद्धिविशिष्ट काव्यचित्र देखा जाय :—

प्रथम विजय थी वह—
भेद कर मायावरण
दुस्तर तिमिर घोर-जडावर्त—
अगणित तरंग-भंग—
वासनाये समल निर्मल—
कर्दममय राशि-राशि
स्पृहाहत जगमता—
नश्वर ससार—
सृष्टि-पालन-प्रलय भूमि
दुर्दम अज्ञान-राज्य—
मायावृत 'मैं' का परिवार
पारावार केलि-कौतूहल
हास्य-प्रेम-क्रोध-भय—
परिवर्तित समय का
वहु रूप रसास्वाद—
घोर उन्माद ग्रस्त
इन्द्रियो का वारम्वार वहिरागमन

स्खलन, पतन उत्थान-एक
अस्तित्व जीवन का—
महामोह;
प्रतिपद पराजित भी अप्रतिहत बढता रहा,
पहुचा मैं लक्ष्य पर

इस रचना मे शुष्कता चाहे जितनी हो पर हम यह कहे विना नहीं रह सकते कि एक विशेष उदात्त चित्र हमारे सामने आता है। इसमे दार्शनिक तथ्य की प्रधानता अवश्य है, पर काव्यालंकारो से सजाकर उसे उपस्थित किया गया है। इसका स्थायी भाव उत्साह है और यह वीर-रस की रचना है।

प्राचीन काव्यसमीक्षा के शब्दो मे 'निराला' जी की उक्त कविता व्यंजना-विशिष्ट नही है, वरन् अभिधाविशिष्ट है। इसमे रस व्यग्य नही है वलिक वाच्य है। प्राचीन शास्त्र कहते है कि ध्वनिमूलक काव्य श्रेप्ठ है, पर इस आग्रह को हम हद के वाहर लिये जा रहे है। नवीन काव्य जिस नैसर्गिक अदम्यता को लेकर आया है, उसमें यह सम्भव नही कि वह परम्परा-प्राप्त ध्वन्यात्मकता का ही अनुसरण करता चले। उसमे यह सम्भव नही कि वह परम्परा-प्राप्त ध्वन्यात्मकता का ही अनुसरण करता चले। प्रचलित प्रणाली को तोडने मे, नवीन युग का सन्देश सुनाने मे, काव्य अपनी क्रम-प्राप्त मर्यादाओ को भी उखाड़ फेकता है। यह ध्वनि और अभिधा काव्यवस्तु के भेद नही है, केवल व्यक्त करने की प्रणाली के भेद है। हमें प्रत्येक प्रणाली को प्रश्रय देना चाहिए, न कि किसी एक को। अभिधा की प्रणाली इस स्पष्टवादी युग की मनोवृत्ति के विशेष अनुकूल है। जहाँ तक हम समझ सके हैं व्यंजना की प्रणाली मे यदि कुछ विशेषता है तो यही कि उसमे काव्य को मूर्त्त आवार अधिक प्राप्त होता है। व्यंजना का अर्थ ही है संकेत, प्रतीक आदि। परन्तु अभिधा मे स्पष्टता अधिक है। व्यंजना के आति-

शय से काव्यचातुरी वढती है, जो प्रत्येक अवसर पर अभीष्ट नही कही जा सकती और सबसे वढी वात तो यह है कि ये अभिव्यक्ति की प्रणालिया मात्र हैं जो काव्यवस्तु को देखते हुए छोटी चीज़ है। 'निराला' जी ने अपनी बुद्धिविशिष्ट रचनाओ को अभिधा-शैली मे और स्वच्छन्द छन्द मे लिखा है। काव्य के मूल्याकन में हम अभिव्यक्ति की शैली को ही सब कुछ नही मान सकते। विशेषत एक विद्रोही कवि जब नवीन प्रवाह को काव्य में प्रसारित करता है, वह अभिव्यक्ति की प्रणाली का गुलाम होकर नही रह सकता। निराला ही नही, 'प्रसाद' सरीखे साहित्य-शास्त्र के अध्येता भी रचनात्मक साहित्य मे बराबर नियमभंग करते रहे है। यह अनिवार्य है और साहित्यिक विकास के लिए उपयोगी भी है।

मुक्त छंद मे निरालाजी ने जहाँ एक ओर 'जूही की कली' जैसी कोमल कल्पनाविशिष्ट रचना दी है, वही 'जागो फिर एक वार' जैसे उदात्त वीर-रस का काव्य भी दिया है। इतना हम अवश्य कहेगे कि उनके मुक्त काव्य मे स्वच्छन्द कल्पना का अति स्वाभाविक प्रवाह है। काव्य का चिर दिन से चले आते हुए छन्द-वन्ध से छूटना हिन्दी मे एक स्मरणीय घटना है। इस श्रेय के अधिकारी निरालाजी ही है।

यह निराला जी का प्रथम विकास था। इसके अनन्तर निरालाजी छन्दोवद्ध सगीतात्मक सृष्टि की ओर झुके। यह उनका दूसरा चरण है। 'परिमल' की छन्दोवद्ध अधिकाश रचनाएं इसी प्रकार की है और 'पन्त जी और पल्लव' की समीक्षा भी इसी के आसपास प्रकाशित हुई। कविता में भावना की प्रमुखता हो चली पर निरालाजी की वौद्धिक प्रक्रिया भी उसके साथ-साथ रही। निरालाजी द्वारा पेटेट किया हुआ 'काव्य-निर्वाह' शब्द इसी वुद्धितत्व का संकेत है। इसका निरालाजी ने सदैव आग्रह किया। पन्त जी की रचनाओ मे उन्हे इसी के अभाव की सबसे अधिक शिकायत ही है। यह वुद्धितत्व आधुनिक भावनाविज-

ड़ित कविता में निस्संगता लाने मे और कोरी भावुकता या कल्पना-प्रवणता को संग्रथित कलासृष्टि का स्वरूप देने मे समर्थ हुआ। एक दूसरे से असंपृक्त या टूटी हुई कल्पनाओ को एकतानता मिली। बुद्धि और भावना के इस संयोगकाल का स्वरूप संक्षेप मे उनकी इस 'अधिवास' कविता मे देखिए—

उसकी अश्रुभरी आंखो पर
मेरे करुणांचल का स्पर्श
करता मेरी प्रगति अनन्त
किन्तु तो भी है नही विमर्ष
छूटता है यद्यपि अधिवास
किन्तु फिर भी न मुझे कुछ त्रास।

यही स्वरूप उनकी 'पन्तजी और पल्लव' समीक्षा मे भी देखा जा सकता है जिसमे उन्होने 'विश्ववाद' के बौद्धिक तत्व से शृंगारी कवियो के लघु चित्रो का प्रतिपादन किया है, पर भावना-भूमि मे आकर नवीन भाषा और व्यापक भावो के लिए पन्तजी की प्रशसा की है।

इस द्वितीय चरण मे जहां कही निरालाजी बुद्धि और भावना का रमणीय योग करने में समर्थ हुए हैं, कविताएँ विशेष उज्ज्वल और निखरी हुई हैं। अनेक छोटी रचनाओ मे ही नहीं, 'यमुना', 'स्मृति', 'वासन्ती', 'वसन्त समीर', 'बादलराग' आदि लम्बी कृतियो मे भी यह सुयोग सफलतापूर्वक सिद्ध हुआ है। इसमे बुद्धितत्व भावना के साथ सन्निविष्ट होकर, अधिकांश में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व छोडकर, मिल गया है जिसमे तल्लीन वातावरण बनकर काव्य-वैभव का विशेष विकास हो सका है।

द्वितीय चरण के उपरान्त निरालाजी का तृतीय चरण गीत-रचना का है जिसकी प्रतिनिधि पुस्तक 'गीतिका' है। गीतों मे कुछ तो दार्शनिक

हैं, पर अधिकाश प्रेम और शृंगार-विषयक है। इनमे मधुर भावो की व्यंजना हुई है। विराट बौद्धिक चित्रो के स्थान पर उज्ज्वल रम्य आकृतियाँ अधिक हैं। यह परिवर्तन निराला जी द्वारा बुद्धितत्व के कलात्मक परिपाक की दिशा मे एक सीढी और आगे है। जहाँ 'परिमल' की अनेक कविताओ मे बुद्धिजन्य प्रक्रिया काव्य के साथ दूध-मिश्री के से मिश्रण में नही मिल सकी, वहाँ गीतो मे ऐसा प्राय सर्वत्र हुआ है। किन्तु साथ ही 'परिमल' की स्वच्छन्द काव्य प्रवृत्ति की अपेक्षा इन गीतो मे आलकारिक बधन अधिक है।

निराला जी का वास्तविक उत्कर्ष अपने युग की भावना और कल्पनामूलक काव्य में सचेत बुद्धितत्व का प्रवेश है। इससे काव्य-कला का वडा हित-साधन हुआ। कविता के कलापक्ष की उपेक्षा सीमा पार कर रही थी और कोरे भावनात्मक उद्‌गार काव्य के नाम पर खप रहे थे। निरालाजी ने इस विषय मे नया दिग्दर्शन कराया। आधुनिक कवियो में इस विशेषता को लिये हुए निरालाजी क्षेत्र मे एक ही है। इस दिशा मे काम करते हुए उन्होने पहले-पहल मुक्त-छंद की सृष्टि की, जो उक्त उद्देश्य के विशेष अनुकूल सिद्ध हुआ। मुक्त-छंद के अतिरिक्त उन्होने हिन्दी पद-विन्यास को भी अधिक प्रौढ तथा अधिक प्रशस्त वनाने का सफल प्रयास किया। अत्यन्त सार्थक शब्दसृष्टि द्वारा निरालाजी ने हिन्दी को अभिव्यक्ति की विशेष शक्ति प्रदान की है। संगीतज्ञ होने के कारण शब्द-सगीत परखने और व्यवहार मे लाने मे वे आधुनिक हिन्दी के दिशा-नायक हैं। अनुप्रास के वे आचार्य हैं।

निरालाजी के काव्य मे करुणा की अथवा शृंगार की दुर्बल भावनामूलक अभिव्यक्ति हमें नही मिलती। वे एक सचेत कलाकार हैं, इसलिए उनके काव्य मे असयम और अति कही नही है। उनमे एक अनोखी तटस्थता है जो उन्हे काव्य की भावधारा के ऊपर अपना व्यक्तित्व स्थिर रखने की क्षमता प्रदान करती है।

निरालाजी के शृंगारिक वर्णनों में दार्शनिक तटस्थता है—

पल्लव पंक पर सोती शेफालि के
मूक-आह्वान भरे लालसी कपोलो के व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।

यह रूपक एक दार्शनिक कवि ही बाध सकता था। इसी प्रकार पति-प्रिया कामिनी को रात्रि-जागरण के उपलक्ष मे यह उपहार कौन दे सकता था—

'वासना की मुक्ति-मुक्ता त्याग मे तागी'

'निराला' जी ने अपनी दार्शनिकता के द्वारा अनेकश ऐसी पंक्तियो की सृष्टि की है जो आधुनिक हिन्दी मे अप्रतिम है। यह उद्धरण के लिए उपयुक्त स्थल नही है।

निरालाजी छायावादी कवि कहे जाते है। उनका छायावाद कहाँ है? मुक्त छन्दो मे उनका दार्शनिक छायावाद 'विराट् सत्ता' और 'शाश्वत ज्योति' के रूप मे व्यक्त हुआ है। कितने ही स्थानों पर निरालाजी इसे 'अमर विराम' (जागरण), 'माता' (पंचवटी प्रसंग'), 'श्यामा' ('एक वार वस और नाच तू श्यामा') आदि पदों मे व्यक्त करते है। 'यमुना' मे उसे वे ही कही 'श्याम' और कही 'अतीत' कहते है। इनके द्वारा कवि उसी 'शाश्वत ज्योति' की व्यजना करता है। यह उनके छायावाद का एक पहलू है। दूसरा पहलू है 'जड' जीव-जगत् मे सर्वत्र उसी शाश्वत ज्योति का प्रकाश देखना। यदि वह दार्शनिक छायावाद है तो इसे उसका प्रयोग समझना चाहिए। उसमें एक ज्योति है, इसमे अनेक खंड चित्र उसी एक ज्योति से ज्योतित दिखाये गये है। यही निरालाजी का 'निर्वाह' है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक दृश्यवस्तु का पर्यवसान एक ही 'अदृश्य', 'अनन्त' मे होता है। छोटी-बड़ी मानवीय वासनाएँ भी 'बुद्धं शरणं गच्छ' के उपरान्त शुद्ध स्वरूप प्राप्त करती है।

'वासना की मुक्ति-मुक्ता' के पद मे वासना की भी परिष्कार द्वारा मुक्ति मे परिणति की गई है। यही परिष्कार (निखार) निरालाजी के छायावाद की विशेषता है। प्रसादजी मानवीय माध्यम द्वारा रहस्यात्मक अनुभूतियाँ प्राप्त करते और व्यक्त करते हैं। वे मनुष्यता से (अर्थात् मानवीय वृत्तियो से) इतना आकर्षित है कि मनुष्य ही उनके चैतन्य की इकाई बन गया है, पर निरालाजी की इकाई वही 'शाश्वत ज्योति' है जो उनकी कविता और उनके दार्शनिक, सामाजिक कलात्मक विचारों के मूल मे है। निराला जी के काव्य की व्याख्या करनी हो तो हम इस तरह कहेंगे कि निरालाजी हिन्दी काव्य के प्रथम दार्शनिक कवि और सचेत कलाकार हैं।

कविताओ के भीतर से जितना प्रसन्न अथच अस्खलित व्यक्तित्व निराला जी का है, उतना न प्रसाद जी का है न पतजी का। यह निरालाजी की समुन्नत काव्य-साधना का प्रमाण है। निरालाजी के 'कवि' मे जड़त्व का अंकुश कही नही मिलता जबकि प्रसादजी की भावनाएँ कही-कही साधारण तल तक पहुँच गई हैं और पंतजी का शृंगार यत्र-तत्र ऐन्द्रियता की दशा तक पहुँच गया है और उनकी कविता यदा-कदा 'अपनी तारीफ' तक करने लगी है। निरालाजी की 'यमुना' की तुलना यदि पतजी की 'उच्छ्वास', 'आसू' अथवा 'ग्रन्थि' से की जाय—इन सब मे विषय-साम्य है—तो निरालाजी का निर्लेप व्यक्तित्व देखकर मुग्ध होना पडता है। यहां हम वर्णित विषय की नही वर्णित विषय के भीतर से रचयिता के व्यक्तित्व की वात कह रहे है। अवश्य ही निरालाजी के दर्शन का यह चमत्कार विशेष रीति से उल्लेखनीय है। निरालाजी का शृंगार सर्वत्र संयमित है। काव्य में प्रत्येक प्रकार का शृगार-वर्णन करते हुए भी निरालाजी का व्यक्तित्व कही भी शारीरिक अथवा मानसिक दौर्बल्य से आक्रान्त नही दीख पड़ता। आधुनिक हिन्दी के किसी भी कवि के संबध मे यह वात नही कही जा सकती। यह निराला के शृंगार-काव्य की बहुत बडी विशेषता है।

उच्च और प्रशस्त कल्पनाएँ, परिश्रम-लब्ध विद्या और काव्य-योग्यता उच्च साहित्य-सृष्टि की हेतु बन सकती हैं, किन्तु देश और काल की निहित शक्तियो से परिचय न होने से एक अग फिर भी शून्य ही रहेगा। हमारी दार्शनिक या बौद्धिक शिक्षा तथा साधना भी काव्य के लिए अत्यन्त उपयोगिनी हो सकती है, किन्तु इससे भी साहित्य के चरम उद्देश्य की सिद्धि नही हो सकती। इन सबकी सहायता से मूर्त्तिमती होनेवाली जीवन-सौन्दर्य की प्रतिभा ही प्रत्येक कवि की अपनी देन है। इसी से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता और शताब्दियो तक स्थिर रहता है। इसके बिना कवि की वास्तविक सत्ता प्रकट नहीं होती।

निरालाजी की कल्पनाए उनके भावो की सहचरी है। वे सुशीला स्त्रियो की भाति पति के पीछे-पीछे चलती है। इसलिए उनका काव्य पुरुष-काव्य है। उनके चित्रो मे रंगीनी उतनी नही जितना प्रकाश है। अथवा यह कहे कि रंगो के प्रदर्शन के लिए चित्र नही हैं, चित्र के लिए रग है। काव्य-सौन्दर्य की वे बारीकिया जो आजीवन काव्यानुशीलन से ही प्राप्त होती हैं, उनकी विविधताएँ और अनोखी भगिमाए, निरालाजी की रचना मे सन्निहित करने का प्रयास नहीं हैं। वे मुद्राए जो सम्प्रदाय-विशेष के कवियो मे दिखाई देकर उनकी विशिष्टता का निर्माण करती है, अभ्यास द्वारा जिन्हे पुष्ट करना ही उन कवियों का लक्ष्य बन जाता है, निरालाजी का लक्ष्य नही है, परन्तु उनका एक व्यक्तित्व जिसमे व्यापक जीवनधारा के सौन्दर्य का सन्निवेश है, जिसमे ओज के साथ एक सुकोमल सौहार्द का समाहार है, उनके काव्य मे सुस्पष्ट है। इन उभय उपकरणो के साथ जो एक साथ अत्यन्त विरल हैं कवि की दार्शनिक अभिरुचि कविता की श्रीसम्पन्नता मे पूर्ण योग देती है। गेय पदो की शाब्दिक सुघरता, संक्षेप मे आशय की अभिव्यक्ति, सुन्दर परिसमाप्ति और प्रकाश निरालाजी के काव्य को दर्शन द्वारा उपलब्ध हुए हैं। और मैं यह कह चुका हूं कि सौन्दर्य की प्रतिमाए निरालाजी ने व्यक्तिगत जीवनानुभव से संघटित की है।

निरालाजी में पूर्ण मानवोचित् सहृदयता और तन्मयता के साथ उच्चकोटि का दार्शनिक अनुबन्ध है, अतएव उनके गीत भी मानव-जीवन के प्रवाह से निखरे हुए, फिर प्रकाश से चमकते हुए हैं। उनमे क्लिष्ट कल्पनाओं और उड़ानो का अभाव है, किन्तु यही उनकी विशेषता है। सम्भव है, कविता में कल्पना के इन्द्रजाल देखने की अधिक कामना रखनेवालो को इन गीतो से अधिक सन्तोष न हो, किन्तु उनमे जो गुण हैं, कला की जो भंगिमाएं, प्रकाश-रेखाओ की जैसी सूक्ष्म अथच मनोरम गतियां हैं वे इन्हीं मे है और हिन्दी में ये विशेषताएं कम उपलब्ध होती हैं। इन गीतों में असाधारण जीवन-परिस्थितियों और भावनाओं का अधिक प्रत्यक्षीकरण नही है, इसका आशय यही है कि इनमे जीवन के किसी एक अश का अतिरेक नही है। इनमे व्यापक जीवन का प्रखर प्रवाह और संयम है। गति के साथ आनन्द और विवेक के साथ भी आनन्द मिला हुआ है। दोनो के संयोग से बना हुआ यह गीत-काव्य विशेष स्वस्थ-सृष्टि है।

'गीतिका' के गीतों को हम पाश्चात्य प्रगीत काव्यशैली की अपेक्षा भारतीय पद-शैली के अधिक निकट पाते हैं। इनमें रचना की अनिवार्यता, निरपेक्षता और प्रवेग की अपेक्षा चयन, सज्जा और कल्पना का प्राचुर्य है। मधुर भावना की तन्मयता के साथ-साथ आलंकारिकता का पुट भी कम नही है।

शृंगारिक तथा प्रकृति-प्रगीतो के पश्चात् निरालाजी वीर रस की क्रान्तिकारी रचनाओं के साथ हमारे सामने आते हैं। उनके शृंगार तथा वीर रस के प्रगीतों का निर्माण एकाधार पर ही हुआ है। अन्य कवियों की रचनाओ में यह धरातल पृथक्-पृथक् है। इसका कारण यह है कि शृंगार तथा वीर किसी सांस्कृतिक भूमि पर ही एक हो सकते हैं। जो द्विधात्मक या टूटे हुए व्यक्तित्व के कवि है उनमे यह सांस्कृतिक एकता नही रहती, अतएव उनके शृंगारी गीतो में जहां नग्न या वास-

नामय श्रृंगार की प्रधानता होती है, वहाँ वीर गीतों मे केवल मार-काट के दृश्य ही होते हैं। कतिपय अन्य कवियों की रचनाओ से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि निराला का व्यक्तित्व अधिक सुसंस्कृत, प्रौढ़ तथा अनासक्त है, उसमे कच्चा या अधूरापन नही है। जिस समय देश में गांधी जी का आन्दोलन चल रहा था, निराला जी ने सामाजिक क्रान्ति से संबंधित रचनायें लिखी थी। 'बादलराग' ऐसा ही प्रगीत है। उनके मतानुसार जब तक गरीबी-अमीरी का द्वन्द्व रहेगा, तब तक क्रान्ति को कोई रोक नही सकता। वे दूरदर्शी तथा क्रान्तिदर्शी कवि थे। उनके मस्तिष्क मे क्रान्ति की उस स्थिति का चित्र आया था जिसकी लोग उस समय की परिस्थितियों मे कल्पना भी नही कर सकते थे। सन् १९३५ के आसपास समाज मे स्वराज्य या स्वतंत्रता को लेकर आस्था के स्थान पर संशय की भावनाएं घर कर गई थीं। निराला जी के प्रगीतो मे भी इस स्थिति का चित्रण मिलता है। 'राम की शक्ति पूजा' में राम चिंतित हैं कि विजय होगी या नही ? परन्तु अंत मे राम को विजय का वरदान मिलता है। यह निराशा मे आशा और आस्था की ध्वनि है। 'तुलसीदास' कविता में भी यह संघर्ष मानसिक स्तर पर उपस्थित है। वस्तुतः यहां परिवेश के साथ मानसिक अन्तर्द्वन्द्व है। अन्तःकालिमा को धोकर मानस निर्विकार होकर ऊपर उठता है। आस्था यहां अन्त मे आती है। जड़ संस्कारों से ऊपर उठने का सदेश अंत मे ध्वनित होता है। देश की बदली हुई परिस्थितियो में यह आशा का वरेण्य स्वर है।

प्रारंभिक रचनाओ में प्रवेग और उल्लास का प्राधान्य था, अतः उनमे कला की अपूर्णता भी दिखाई देती है। 'यमुना के प्रति' मे कोई सम्पूर्ण तारतम्य नहीं दिखाई देता, यदि १० वे पद को पच्चीसवां या चालीसवें को ग्यारहवां पद बना दिया जाय तो रचना मे कोई अन्तर नहीं आयगा। यह कला की कमी ही कही जाएगी यद्यपि इसकी पूर्ति

रचना की प्राणवत्ता करती है। प्रगीत मे इतनी अधिक कसावट या भावान्विति होनी चाहिए कि उसकी एक भी पंक्ति इधर-उधर न हटायी जा सके। निराला जी के छोटे प्रगीतो मे तो यह अन्विति है, पर बड़े प्रगीत यत्र-तत्र शिथिल हैं, जिसका कारण कवि का भावातिरेक है। किन्तु इस द्वितीय युग के सभी प्रगीतो मे प्रगीतात्मक पूर्णता वर्तमान है। स्मृति, वासंती, सन्ध्या सुन्दरी, भिक्षुक, विधवा, राम की शक्ति पूजा, तुलसीदास आदि रचनाओं में कलात्मक पूर्णता निहित है। ये निराला के उत्कर्ष काल की कृतियां हैं।

इस समय निराला जी ने जो राष्ट्रीय प्रगीत भी लिखे है वे भी वस्तु तथा कला की दृष्टि से सम्पन्न है। राष्ट्रगीतो में देश भाषा का प्रयोग उचित नही होता। हमारा राष्ट्रीय गीत 'वन्दे मातरम्' एक प्रकार से संस्कृत में ही लिखा गया है। इसी प्रकार 'जन मन गण अधि-नायक' मे भी संस्कृत की ही पदावली का प्रयोग है, जिसे कोई भी पढ़े चाहे वह बगाली हो, मराठा या पजावी अथवा तमिल भाषी हो, समझ सकता है। इस प्रकार वही गीत राष्ट्रीय हो सकता है जिसमें देशी भाषाओ का प्रयोग न्यूनतम हो। प्रसाद का 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' नामक गीत कल्पनाप्रधान है, उममे देशी भाषा तथा प्रतीको की वहुलता है अतः उसमे राष्ट्रीय गीत वनने की क्षमता नही है। राष्ट्रीय गीतो मे एक दूसरा महत्वपूर्ण तत्व उदात्तता का होता है। पंत के 'भारतमाता ग्रामवासिनी' मे पराभव का चित्र है, औदात्य तथा चारित्रिक सदेश का अभाव है, अत. इसमे भी राष्ट्रीय गीत की क्षमता नही है। निराला के 'भारति जय विजय करे' गीत में उदात्तता तथा-सस्कृतनिष्ठ पदावली की नियोजना है। यह राष्ट्रीय आदर्शो और मानवता के गुणो का अभिव्यंजन करती है। इसके सारे प्रतीक भारतीय परम्पराओ के अनुरूप है। 'प्राण प्रणव ओंकार'—में भारतीय चरम दर्शन—विश्व मानवतावाद की अभिव्यक्ति है। निरालाजी के अवि-

कांश राष्ट्रीय गीत उनकी शृंगारिक रचना के अनन्तर लिखे गए हैं। उनमें सांस्कृतिक पक्ष पूरी तरह उभरा है।

राष्ट्रीय प्रगीतों के अन्तर्गत निराला जी ने कुछ कर्त्तव्य या उद्‌बोधनात्मक गीत भी लिखें हैं। 'दे मैं करूँ वरण'—मे देश के प्रति कर्त्तव्य या त्याग की भावना सर्वोपरि है। वें देश के लिए मृत्यु की भी याचना करते हैं। परवर्ती काल मे उन्होने 'विक्रम सहस्राव्दि,' 'देवी सरस्वती' 'भगवान बुद्ध के प्रति' आदि विषयो को लेकर प्रशस्तिमूलक रचनायें भी लिखी हैं। इनमे भी राष्ट्रीयता की ध्वनि समाहित है।

निराला जी ने कतिपय दार्शनिक प्रगीत भी लिखे हैं जिनमे जड़-वादी, आधुनिक युग के दर्शन पर शंका या कटाक्ष किया गया है। 'कौन तम के पार रे कह' में उन्होंने एक तत्व के अन्तर्गत ही समस्त नानात्व को संग्रथित किया है और यह एक तत्व जड़ या चेतन न होकर अनिर्वचनीय है। इसी भूमिका पर उनके दार्शनिक प्रगीतों की रचना हुई है, किन्तु अन्तिम समय के गीतो में उन्होने एक साकार सत्ता को अपनी उपासना का केन्द्र माना है, जिसे कभी माता या कभी जननि आदि कहकर संवोधित किया है। यह भारतीय सगुण भक्तों की ही प्रणाली है, पर निराला जी के गीत भक्ति-भावना से उद्‌भावित न होकर आन्तरिक तथा सामाजिक अन्तर्द्वन्द्वो की उपज हैं।

१९४० ई० के आसपास से ही निराला की मनःस्थिति में अन्तर दिखाई देने लगा था। उन्होने इस समय ऐसे भाव या विचार व्यक्त किये हैं जो उदात्त भावों को भूलकर व्यंग्य और हास्य की भूमिका पर उप-स्थित हैं। मनुष्य के जब सारे विचारो आदर्शों या मूल्यो पर पानी फिर जाता है तभी वह व्यंग्य करता है। इस प्रकार व्यंग्य एक नकारात्मक योजना है। वह मूल भावात्मक वक्तव्यों की श्रेणी में नहीं आता। काव्य भावात्मक सृष्टि है। व्यंग्य और विडम्वनाएं कवि की प्रथम पराजय की सूचना हैं। व्यंग्य के मूल मे बुद्धि कार्य करती है और बुद्धि रसात्मक

नही होती, इसीलिए काव्य के क्षेत्र मे उसका महत्त्व गौण हो जाता है। इस प्रकार इस नये प्रयोग-काल से ही निराला की परिवर्तित मन स्थिति की सूचना मिलने लगती है।

आखिर कुकुरमुत्ता का व्यंग्य क्या है? कुकुरमुत्ता एक सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि है जिसमें किसी प्रकार की संकृति नही है। वह अपने मुंह से अपनी प्रशंसा अतिरंजित रूप से प्रस्तुत करता है। यह उसकी अपनी अहंमन्यता के प्रति व्यंग्य है। वह गुलाव की निन्दा करके अपनी स्तुति के लिए पृष्ठ भूमि तैयार करता है। यह कुकुरमुत्ता तथा गुलाब-सम्वाद एक परिवेश निर्माण करता है। फिर कुकुरमुत्ता अपनी यथार्थ भूमि पर आ जाता है और आत्मस्तुति मे मग्न होता है। वह क्रान्ति का अग्रदूत वनता है किन्तु जव तक उसमे सांस्कृतिक तत्वो का आगमन नही होता, तव तक समाज और देश की उन्नति कुकुरमुत्ता से संभव नही। इस कृति मे टी०एस० इलियट के 'वेस्ट लैण्ड' की तरह ही संदर्भ-गर्भता है, जिसको समझने के लिए पाठको को अधीत होना आवश्यक है। इसमे चीन की दीवाल, मिश्र के पिरामिड, वेन्जाइन, ओमफलस आदि ऐसे संदर्भगर्भ शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनकी जानकारी पाठकों को आवश्यक है। एक जगह निराला जी ने टी० एस० इलियट पर भी व्यंग्य किया है—

> कही का रोड़ा, कही का पत्थर,
> टी० एस० इलियट ने जैसे दे मारा
> पढने वालो ने भी जिगर पर रखकर
> हाथ, कहा, लिख दिया जहा सारा।

पर निराला जी ने 'वेस्टलैण्ड' की संदर्भगत विशेषता को अपना लिया है। इस कृति से निराला के कुकुरमुत्ता की कुछ अशों मे तुलना भी की जा सकती है। 'वेस्टलैंण्ड' मे सम्पूर्ण संसार के मरुस्थल वनने की सूचना है। निराला की कृति मे संसार कुकुरमुत्ता मे बदलता जा रहा

है। 'वेस्टलैण्ड' मे संसार के सव अच्छे गुणो के अभाव की करुणा प्रधान है, किन्तु कुकुरमुत्ता मे यही वात हास्य के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। यह समता है। अन्तर यह है कि जहां 'वेस्टलैण्ड' में आत्मा का एक अधिक गम्भीर संघर्ष है, वहाँ कुकुरमुत्ता में कोई संघर्ष नही है। यही कारण है कि यह अधिक हल्की तथा विनोदात्मक रचना है। 'वेस्टलैण्ड' गम्भीर और मार्गहीन आत्मसंघर्ष की कृति है। उसमे किसी लक्ष्य का आभास नही मिलता, किन्तु कुकुरमुत्ता मे एक सन्देश है, देश की उन्नति के लिए सांस्कृतिक तत्वो की आवश्यकता पर वल है, जिसके अभाव में समाजोन्नयन संभव नही।

निरालाजी का यह द्वितीय प्रयोग-काल था, इसमे वे कई दिशाओं मे गये हैं और अनेक यथार्थवादी और अन्य धरातलों का संस्पर्श किया है। 'स्फटिक शिला', 'खजोहरा', 'रानी की कानी', 'मास्को डाइलाग्स', आदि उनकी इसी समय की रचनाएँ हैं, जिनमें उन्होने अनेक शैलियों का प्रयोग किया है। जैसा कि प्रयोग शब्द से ही स्पष्ट है, इन रचनाओं मे किसी पाडित्य, छन्द-कौशल या शैली पर अधिकार न होकर उनका प्रयोग मात्र किया गया है, अतः इनमे निरालाजी की प्रौढ़ता या कलात्मकता को खोजना समीचीन न होगा। 'वेला' मे समन्वित भाव नही है। 'नये पत्ते' में 'गर्म पकौड़ी' जैसी रचनाए तात्कालिक वस्तु हैं। इन प्रयोगों से वहुलता की सूचना मिलती है, अधिकार की नहीं। अतः ये रचनाएं शुद्ध भावात्मक काव्य के अन्तर्गत परिगणित नही की जा सकती। उर्दू के साथ-साथ संस्कृत के भी शब्द इनमे मिले है। ये एक भापा के समन्वित स्वरूप का उदाहरण नही हैं, इसलिए भी इन्हे प्रयोगात्मक रचना कहा गया है।

१९४८ ई० के वाद से निराला जी की मन स्थिति गंभीर हो चली और '५० के वाद से वे संत समझे जाने लगे। निराला के इस अवधि के गीत शान्त और करुणरस से युक्त है। ये रचनाये एक आंतरिक

संघर्ष का परिचय देती है। अतः सामान्य रूप से इन्हे हम भक्ति की रचनायें नही कह सकते। वैयक्तिक वेदना और पीड़ा के परिणाम स्वरूप ये गीत ऊपर से भक्ति तथा विनय के जान पडते है, किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, इनके मूल मे सामाजिक तथा आन्तरिक संघर्ष ही रहा है। ऐसी रचनाओ मे कही-कही व्यंग्य है और कही-कही ईश्वराह्वान। जहाँ पर व्यंग्य और हास्य की सृष्टि है वहाँ समाज और मानव की दुर्वलताओ की ओर संकेत है और जहाँ विजय-प्रार्थना है, वहाँ उन दुर्वलताओं को दूर करने के लिए ईश्वर का आह्वान है। ईश्वर का आह्वान भी उन्होने दो रूपो मे किया है। प्रथम, वैयक्तिक पीड़ाओ से छुटकारा पाने तथा द्वितीय, सामाजिक उत्पीडन से त्राण के निमित्त।

भव-अर्णव की तरुणी तरुणा।
वरसी तुम नयनो मे करुणा॥
हार हार कर भी जो जीता,
सत्य तुम्हारी गाई गीता,
हुई असित जीवन की सीता,
दाव-दहन की श्रावण-वरुणा।

इस गीत मे निरालाजी ने निजी हार और कष्ट की भूमिका पर ही अर्चना की है। इसमे विशुद्ध भक्ति का वस्तुमुखी तत्व नही है, वैयक्तिक जीवन की पराजय, पीड़ा से मुक्ति के लिए ही उस महान शक्ति की अभ्यर्थना है जो मानव को त्राण देती है। 'हार गया जीवन रण' मे भी भक्ति-भावना के मूल में वैयक्तिक जीवन के प्रकरण है।

मानव केतन केतन फहरे।
विजय तुम्हारी नभ से लहरे।
छल के वल सवल सव हारे।
तुम पर जन तन-मन-धन वारे।

असुरों को जी जीकर पारे।
अन्धकार का मानस घहरे।

इस गीत में सामाजिक संस्कार के लिए अभ्यर्थना है। वह असुर शक्तियों को चुनौती देती है, जिससे उसका अंधकारयुक्त मानस शंकित हो जाय। इस प्रकार सामाजिक संघर्ष की भूमिका पर निरालाजी ने सामाजिक अनीतियो, वैषम्यों, विकृतियो से क्षुब्ध होकर ही अर्चना-आराधना के गीत लिखे है। उनकी परवर्ती रचनाये विशुद्ध धार्मिक नही, वे मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आत्मनिवेदन के गीत है।

निरालाजी को अपने जीवन मे अत्यधिक संघर्ष करना पडा है। संघर्ष में हारने से ही वे असहाय तथा विक्षिप्त होकर भक्ति की ओर उन्मुख हुए है। कही-कही उनके इन परवर्ती गीतों मे विक्षेपावस्था के कारण विलक्षणता भी आ गई है :

आज मन पावन हुआ है।
जेठ मे सावन हुआ है।

... ...

... कटा था जो पटा रहकर,
फटा था जो सटा रहकर,
डटा था जो हटा रहकर,
अचल था धावन हुआ है ... ... आराधना।

या काली की लिपि, गोरी काला।
कानों के कानो की ताला
वह उकसे वालो की वाला ... ... आदि गीत

जिनकी पंक्तियो मे विलक्षणता दिखाई देती है। यहाँ उनकी विक्षिप्त स्थिति पराजित नही हुई है। कटा, पटा, सटा, फटा, गोरी

काला, कानों की ताला आदि शब्द उसी स्थिति के सूचक है। अत्यन्त संतुलित पंक्तियो के बीच ऊबड़-खाबड़ पंक्तियों की यह योजना भी इसका साक्ष्य है। किन्तु उनकी अधिकांश रचनाओं में ऐसी स्थिति नहीं है। अन्य गीत कलात्मक एकता तथा पूर्णता से युक्त है। उनके गीतों से हिन्दी के काव्य का अभूतपूर्व उन्नयन हुआ है।

हिन्दी के ऐसे ही महाकवि का निधन १५ अक्टूबर १९६१ को हो गया है। इस साहित्यिक महापुरुष का अवसान शताब्दी के कवि का अवसान है।

सुमित्रानन्दन पंत

नवीन हिन्दी कविता मे सवसे श्रेष्ठ सृष्टि-प्रतिभा लेकर श्री सुमित्रानन्दन पंत का विकास हुआ था। हिन्दी के क्षेत्र मे पंत जी की कल्पना की शक्ति अजेय, उसका नवनवोन्मेष अप्रतिम है। कल्पना ही पंत जी की कविता की विशेषता, उसके आकर्षण का रहस्य है। यही उनकी विविध वहुमुखी रचनाओ का आधार, उनमे रमणीयता का विस्तार करती है। 'उपमा कालिदासस्य' मे कल्पना की ही कीर्ति-प्रशस्ति हुई है, यह अर्थ समभकर, पत जी के काव्य मे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि कल्पना-अलंकरण प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं, यह कहा जाय, तो प्राचीन समीक्षा की शब्दावली का निर्वाह भी हो जायगा और पंत जी की विकास-दिशा भी इंगित हो जायगी। कल्पना केवल रूप-छवियो मे ही नही, काव्यवस्तु और भावना मे भी। यह दूसरी कल्पना पंत जी की प्रारंभिक रचनाओ मे कोरी भावप्रवणता का आतिशय्य कर देनेवाली अतः काव्यालोचना में विशेष प्रशंसा-ज्ञापिका नही, परन्तु यहाँ पंतजी का विकास दिखाने में उसका उल्लेख करना ही पड़ेगा। कल्पना ही पंतजी की कविता का मेरुदण्ड, उनकी काव्यसृष्टि का माप-दड रही है। कल्पना की वाल मुलभ रगीन उड़ानो से लेकर अत्यन्त तल्लीन और गहन कल्पना-अनुभूतियो के चित्रण मे पंत जी का विकास-क्रम देखा जा मकता है।

प्रेम और सौन्दर्य की मूक्ष्म मानसिक विवृत्ति मे पंतजी की कल्पना ममर्थ हुई है और यत्र-तत्र यही कल्पना आध्यात्मिक उड़ान भी लेती चली है। इसे ही प्रचलित शब्दावली मे छायावाद कहा जाता है। प्रेम के संयोगपक्ष को भी और वियोग-पक्ष को भी समान सौकर्य से

श्री सुमित्रानन्दन पंत

आधुनिक काव्य :

रचना और विचार

प्रकट करने मे उनकी कल्पना कुंठित नही होती, कही हलकी मोदमय; कही मधुर रसमय भावाभिव्यक्ति करने मे वह योग देती और कही गूढ रहस्यमयी सृष्टि भी निर्मित करती है। कल्पना के प्रकर्ष मे जड़ व्यक्तित्व छूट जाता है, और कवि स्वच्छन्द होकर व्यापक, निर्लेप सृष्टि करने मे प्रवृत्त होता है। एक ओर जहाँ लाभ है, वहाँ दूसरी ओर यह हानि भी साथ ही लगी है कि कल्पना का अतिरेक जीवन का संपर्क छोड़कर ऐकान्तिक हो जाय। किन्तु पन्तजी की कल्पना वैसी प्रायः कम ही है। वह अनेक वार दिव्य ज्योति दिखाती, यदा-कदा विद्युत चकाचौंध उत्पन्न करती पर गड्ढे मे प्राय. कभी नही गिराती।

कल्पना की इस 'आलिम्पिक' प्रतियोगिता मे पंतजी ने अपने लिए प्रेम और सौन्दर्य के 'हीट्स' चुन लिये हैं और शृंगार वर्णन का उनका 'रेस' विशेष चमत्कारपूर्ण हुआ है। पन्तजी की यही रुचि-दिशा है। उनकी रुचि कोमल अथच मार्जित है। उसे हम नागरिक रुचि भी कह सकते है और इस विशेषण से उनके वर्णित विषय पर ही नही उनके शब्द-संगीत, छन्द-चयन और भाषा-शैली पर भी प्रकाश पड़ जाता है। उनकी कल्पना के साथ उनकी यह रुचि मिलकर उनकी कविता को रमणीय अथच आकर्षक वेश-भूषा से सज्जित करती है—यह साज सज्जा आधुनिक हिन्दी में अतिशय विरल है। पन्त जी की इस रुचि से हिन्दी खडी वोली को ईप्सित फल प्राप्त हुए है—सरस, सार्थक शब्दसृष्टि, सुगेय छन्द और सुन्दर प्रशस्त भाषा। शब्द-साधना मे पन्तजी ने संस्कृत की सहायता ली है यद्यपि शब्द-प्रतिमाएँ अगेजी कला-कौशल से खडी की गई है। भाषा, छन्द और शब्दालकरण का महत्व समीक्षकगण यह कहकर अपहरण कर लेते हैं कि उनसे भावतन्मयता को क्षति पहुचती है, और इस प्रकार वहिरंग को सजाकर अन्तरंग रुग्ण ही वना रहने दिया जाता है, पर ऐसे आरोपो पर हमे ध्यान नही देना चाहिए। काव्य में वहिरंग और अन्तरंग का ऐसा कही भेद नही

है। सार्थक, सुप्रयुक्त शब्द, यथायोग्य छन्द—ये सब भावो के अभिन्न अंग है। बाह्य और अन्तरंग यहां कुछ नहीं। भावों को स्वरूप देने वाले शब्द ही काव्य में सब कुछ है, अन्यथा भावो की सत्ता ही कहां रहती ? 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' को काव्य कहते हुए संस्कृत आचार्य ने इसी तत्व को प्रकट किया था जिसे हम आज वहिरंग और अन्तरंग के भ्रम में भुलाना चाहते है। पंतजी ने अपने समय की खड़ी बोली को संस्कृत की शब्दयष्टि देकर दृढ किया, हिन्दी के अनुरूप अनेक प्रयोग आविष्कृत किये और भाषा में एक नई ही छटा छा दी। उन्होने खड़ी बोली को भावाभिव्यक्ति की विशेष शक्ति प्रदान की। यहां इस उल्लेख का आशय यह है कि समीक्षक-गण भाषा और भावों का चाहे जो सम्वन्ध स्थापित करे, परन्तु पन्तजी ने अपनी खड़ी बोली को स्वस्थ स्वरूप देकर उसे भावप्रसूति के अधिक उपयुक्त वनाया और उनके इस प्रयास मे भाषा और भाव अलग-अलग नही—बाह्य और अन्तरग नही—वरन् काव्य का सर्वागीण विकास करते देख पड़ते है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि खड़ी बोली को उस समय अपने अवयव-संघटन की परम आवश्यकता थी, अन्यथा स्वयं हिन्दी कविता उसी पुरानी दुर्बल दशा में पड़ी रहती। भाव और भाषा का यह अभिन्न संबंध समझने मे पंत जी को प्रारंभ से ही द्विविधा नही थी, यह भी समय को देखते हुए, उनकी प्रतिभा का ही प्रमाण है।

इस प्रसंग-प्राप्त स्थल मे हम एक आवश्यक उल्लेख कर देना चाहते है, तत्पश्चात् पन्तजी की कृतियो की थोड़ी चर्चा करने मे प्रवृत्त होगे। यह उल्लेख स्पष्ट शब्दो में करने मे भी कोई हानि नही है। पन्त जी पर यह आक्षेप सबसे अधिक किया गया है—यह भी उनकी ओर लोक दृष्टि के आकर्षण की ही सूचना है—कि वे न केवल बंगला के शब्द-प्रयोगो को हिन्दी मे अपनाते है, वे तो अंग्रेजी के कवियों और बंगला के रवीन्द्रनाथ आदि से भावापहरण भी करते है। इस प्रकार के आक्षेपों

के सम्बन्ध मे हम केवल दो बातें कह सकते हैं। एक तो यह कि यदि हिन्दी मे लाकर भिन्न भाषा के प्रयोगों को हिन्दी का बना दिया गया है (इस 'हिन्दीकरण' का अर्थ हिन्दी के जानकार खूब समझते हैं) जिससे हिन्दी की अभिव्यक्ति-शक्ति बढ़ने के लाभ के अतिरिक्त कोई हानि नहीं हुई, तो उसे अपहरण न कहकर अलंकरण ही कहना चाहिए। 'मणि मानिक मुक्ता छवि जैसी, अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी, नृप-किरीट, तरुनी-तनु पाई, लहहिं अधिक सोभा अधिकाई।' दूसरी बात यह कि हमें उन अपहरणो के भीतर से कवि का विकास देखना चाहिए। हमको यह जान लेना चाहिए कि कवि केवल अनुवादक के रूप में बना रहता है अथवा वह कुछ आगे भी बढता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'उप-जहिं अनत अनत छवि लहही' की अपनी सूक्ति को अपने काव्य में पूरी मात्रा मे चरितार्थ कर दिखाया है। हम देखते है कि पन्तजी के अपहरणों में भी उनकी प्रतिभा और रुचि का सम्यक् प्रदर्शन है। तथापि यदि कहा जाय कि पंतजी ने रवीन्द्रनाथ से वहुत कुछ प्राप्त किया है, तो क्या रवि वावू ने दूसरे कवियों से कुछ भी प्राप्त नही किया। केवल दो एक उदाहरण देख लेना चाहिए।

"Spirit of Beauty that dost consecrate
With thy own hues all thou dost shine upon
Of human thought or form—where art thou gone ?"

Shelly.

"Spirit of Beauty, how could you, whose radiance over brims the sky,
Stand hidden behind a candle's tiny flame ?
How could a few vain words from a book rise like a ineffable calm ?"

Ravindranath.

Suspended in the solitary dome
Of some mysterious and deserted fane

I wait thy breath, Great Parent, that my strain
May modulate with murmurs of the air,
And motions of the forest and the sea,
And voice of living beings and woven hymns
Of night and day, and the deep heart of man."

Shelly.

"Let they love play upon my voice and rest on my silence
Let it pass through my heart into all my movements
Let me carry thy love in my life as a harp does its music and
Give it back to thee at last with my life."

Ravindranath.

सजनि श्याम की वंशी ही से
कर दे मेरे सरस वचन
जैसा जैसा मुझको छेड़े
बोलू अधिक मधुर मोहन,
जो अकर्ण अहि को भी सहसा
कर दे मन्त्रमुग्ध नतफन
रोम-रोम के छिद्रो से मा
फूटे तेरा राग गहन।

(पन्त)

'उच्छ्वास', 'आंसू', 'ग्रन्थि' और 'परिवर्तन' पन्तजी की वियोग वर्णन की लम्बी कविताएं हैं। 'उच्छ्वास' और 'आंसू' दोनो एक में मिला कर एक ही कविता बना दी जा सकती है। एक की भावना एक में ही संकलित न होकर दूसरी मे भी प्रसार पा रही है। संकलन की दृष्टि से यह बाधा लग गई है। परन्तु इस बाधा से भी अधिक 'उच्छ्-

वास' और 'आंसू' की अस्पष्टता खटकती है। यह अस्पष्टता रहस्यवाद की किसी ऊंची आध्यात्मिक उड़ान के कारण नही है—यह हम स्पष्टतः कह सकते है। पन्तजी की कल्पना जहां कही आध्यात्मिक भावना मे परिणत होती है, वे छाया-रहस्यात्मक स्थल कही दुरूह नहीं हुए है, परन्तु 'उच्छ्वास' और 'आँसू' मानवीय वियोग का वर्णन करते हुए जान पडते, किन्तु क्लिष्टता के कारण सदेह उत्पन्न करते है। 'उच्छ्वास' में जहा पंतजी प्राकृतिक शोभा-वर्णन करके 'इस तरह मेरे चितेरे-हृदय की, वाह्य प्रकृति वनी चकाचक चित्र थी कहते है वहां यह अनुमान दृढ हो जाता है कि हृदय के ही किसी प्रसग का वर्णन है, जिस प्रसग मे 'वाह्य प्रकृति' को 'चित्र' मात्र वनाकर सतोष करना पडा है। पन्तजी की रहस्यात्मक कविताओ मे प्रकृति को कही 'वाह्य प्रकृति' कहलाने का अवसर प्राप्त नही हुआ, इसलिए यह दूसरा अनुमान भी दृढ होता है कि 'उच्छ्वास' मे पंत जी की कोई गहन अनुभूति नही है। फिर उसमें क्या है? इस प्रश्न के उत्तर मे 'उच्छ्वास की वालिका' के प्रति जो 'स्मृति' पतजी ने लिखी है वह भी विशेष सहायता नही पहुँचाती। वालिका के प्रति वियोग की वात जो 'उच्छ्वास' और 'आंसू' दोनों से ज्ञात होती है और यह भी ज्ञात होता है कि 'संदेह के कारण वालिका का परिणय-संवध उसके उस मित्र से न हो पाया जो मन्द-हास-सा उसके मृदु-अधरो पर मड़राया' और 'उसकी सुखद सुरभि से प्रतिदिन समीप खिच आया' था। इस परिणय सवध के चरितार्थ न होने, वीच मे ही टूट जाने के कारण 'उच्छ्वास' और 'आसू' की सृष्टि हुई देख पड़ती है। पंतजी इसे 'कल्पनाओ की कल कल्पलता' कहकर अपनाते है, इसलिए 'वालिका' का शारीरिक अस्तित्व कल्पना मे विलीन होता जान पडता है पर साथ ही 'अदेह सन्देह' के कारण 'जुड़े स्वभाव छुडाने' आदि की घटनाए फिर वीच मे विक्षेप डालती हैं। यह अस्पष्टता कविता के लिए काम्य नही हुई, निष्कर्ष तो केवल दो ही निकल सकते है।

कवि 'बालिकावत्' अपने बाल्यजीवन के वियोग में दुःख प्रकाश कर रहा अथवा वह अपनी किसी बाल-सहचरी का विरह वर्णन कर रहा है। किन्तु दोनों निष्कर्षों मे द्विविधा लगी हुई है। पहले निष्कर्ष के अनुसार अपनी ही 'बालिका मूर्ति' के प्रति कवि का वियोग आश्चर्यजनक प्रतीत होगा और दूसरा अर्थ लेने पर कवि की इस वियोग घटना मे किसी आध्यात्मिक वाद की अपेक्षा निराश रुदन की ही प्रमुखता सिद्ध होगी। इससे कही अधिक सरस, पंत जी की 'बालापन' कविता है जो 'उच्छ्वास' 'आंसू' आदि से दो वर्ष पहले लिखी जा चुकी थी:—

'अहो कल्पनामय फिर रच दो वह मेरा निर्भय अज्ञान,
मेरे अधरों पर वह मा के दूध से घुली मृदु मुस्कान
मेरा चिन्तारहित अनलसित वारिविम्ब-सा विमल हृदय
इन्द्रचाप-सा वह बचपन के मृदुल अनुभवो का समुदय'

इत्यादि।

इस 'बालापन' कविता के सामने 'उच्छ्वास' का 'बालिका-विरह' आदि हमे प्रभावित नही करते, यदि दूसरे निष्कर्ष के अनुसार देखें तो 'उच्छ्वास' की बालिका यौवनागम के द्वार पर खड़ी अपने प्रिय के परिणय-पाश में बधने से वंचित, अवश्य ही करुण है, और उसके निराश प्रेमी के 'आसू' भी अवसर-जन्य ही है, परन्तु यह सब वर्णन-संभवतः पंतजी के उस समय के संकोच के कारण स्पष्टता नही प्राप्त कर सका। यदि प्राप्त भी करता तो कविता किसी उच्च धरातल पर न पहुँच पाती, क्योकि 'उच्छ्वास' और 'आंसू' में पंतजी की कल्पना कही भी गंभीर स्पर्श नही करती, व्यक्तिगत आकांक्षा और आवेग तक सीमित रहती है।

'उच्छ्वास' और 'आंसू' के पढने पर एक तीसरी धारणा यह भी उत्पन्न होती है कि इनमें कवि 'प्रेम' का मुक्त निर्बन्ध रूप दिखा रहा

है। यह धारणा इन पंक्तियो से और भी दृढ़ होती है—

देखता हू जब उपवन पियालो मे फूलो के
प्रिये! भर भर अपना यौवन, पिलाता है मधुकर को,
नवोढा-बाल-लहर, अचानक उपकूलो के
प्रसूनो के ढिग रुककर, सरकती है सत्वर।
अकेली आकुलता-सी प्राण! कही तब करती मृदु आघात!
सिहर उठता कृश गात, ठहर जाते है पग अज्ञात।

प्रकृति के इस निर्मल मिलन को ही 'सार' समझकर, कवि 'उच्छ्-वास' की 'बालिका' के प्रसग मे उसका अभाव देखकर कहता है—

है सभी तो और दुर्बलता यही, समझता कोई नही क्या सार है।
निरपराधो के लिए भी तो अहा! हो गया ससार कारागार है।

अवश्य ही 'उच्छ्वास' की बालिका ने कवि के हृदय मे प्रेम के रहस्य के संबंध मे जिज्ञासा उत्पन्न कर दी है और वह जिज्ञासा 'निर-पराधो के लिए भी तो अहा, हो गया ससार कारागार है' कहकर ही समाप्त नही हो जाती। उसका समाधान 'मुक्त प्रकृति के निर्बन्ध विहार' मे ही नही होता। वह और आगे बढती है।

'ग्रन्थि' पंतजी की विशेष मार्मिक विरह-कविता है। यह 'उच्छ्-वास' और 'आसू' की भाति द्विविधा से नही, अत्यन्त स्पष्ट रीति से मानवीय विरह का शोक संताप प्रकट करती और विशेष करुण वाता-वरण उपस्थित करती है। 'उच्छ्वास' की उपर्युक्त प्रेम-सबधी जिज्ञासा ही मानो 'ग्रंथि' बन गई है, पर 'ग्रथि' का उसमे निवारण नही है। कवि यहा वियोगव्यथा मे इतना तल्लीन हो गया है कि उसमे एक विलक्षण जड़ता आ गई है जो पंत जी की अन्य रचनाओ मे बहुत कम दिखलाई देती है। 'ग्रथि' के वियोग वर्णन मे विषाद और तज्जन्य मानसिक दौर्बल्य का भी आभास छूट नहीं पाया।

'परिवर्तन' मे पहुँचकर पन्त जी की कल्पना सचेत होकर अपनी शक्ति का परिचय देती है। 'उच्छ्वास', 'आसू' 'ग्रन्थि' आदि के वैय-

त्तिक अनुभवो के उपरान्त 'परिवर्तन' मे कवि की निर्लेप कल्पना प्रस्फुटित हो उठी है और यहाँ वह जीवन के सम्बन्ध मे निराशामूलक किन्तु तटस्थ विचार प्रकट करती है। यदि यह कथन ठीक है कि कविता-शरीर की रीढ दर्शन है तो 'परिवर्तन' मे कविता को यह दृढ रीढ मिल गई है। 'परिवर्तन' को हम दार्शनिक काव्य कह सकते है, उसे पंतजी की सुन्दरतम रचनाओ मे रख सकते है। यहां पहुँचकर 'उच्छ्वास' का 'निरपराधो के लिए भी तो अहा, हो गया संसार कारागार है' की भाति का उपालभ दूर हो जाता है और वस्तुस्थिति को समझकर कवि उसे स्वीकार करता है। 'परिवर्तन' मे कवि का निराशावाद ही प्रमुख रीति से झलकता है। 'फिर भी स्थिति' को देखने की ओर वास्तविकता को पहचानने की शक्ति का उसमें आह्वान है। निराशामूलक होती हुई भी इस रचना मे एक औदात्य और दर्शन की तटस्थता है। अवश्यम्भावी 'परिवर्तन' के चिरचक्र मे पडा हुआ क्षुद्र मनुष्य अपने सुख दु.ख पर क्या आस्था करे? 'परिवर्तन' मे मानवीय सुख-दु.ख का यही निराकरण, जीवन का यही आश्वासन हमे प्राप्त होता है। 'साधना ही जीवन का मोल' 'परिवर्तन' की विधायक पंक्ति कही जा सकती है।

'पल्लव' मे वियोग-पक्ष प्रमुख होने के कारण करुण निराशा की एक अश्रुपूर्ण झलक ही मूर्तिमती होती है। उल्लिखित रचनाओ के अतिरिक्त 'छाया' 'स्वप्न' 'नक्षत्र', आदि का स्वर-तार करुण ध्वनि निक्षेप करता है। विविध वर्णनो और जिज्ञासाओ मे एक निराशा ही फैली मिलती है। 'गुजन' मे इसके विपरीत कवि अधिक आस्तिक बनने की सम्भावना प्रकट करता है। १६३१-३२ की प्राय. सभी रचनाये सयोग पक्ष की है, जिसमे पत जी की कल्पना अपना चमत्कार दिखा रही है। 'भावी पत्नी के प्रति,' 'मधुवन' आदि लम्बी रचनाओ से भी अधिक छोटे-छोटे गीतो मे वह प्रदर्शित हुई है, जैसे 'लाई हू फूलो का हार, लोगी मोल, लोगी मोल?' मे 'पलकन पग चूमू पिया के' आदि। हिन्दी के शृंगारी कवि विरह-वर्णन के कारण अधिक लाछित नही किये गये, पर जब वे सयोग

वर्णन करने मे सन्नद्ध हुए तब उनमे से अधिकांश ने कल्पना को ताख पर रखकर अत्यन्त स्थूल, फोटोग्राफ खीचना आरंभ किया। विरह वर्णन करने मे उन कवियो ने जहां कल्पना के आकाश पाताल एक कर ऊहा की विपथगति दिखा दी, वहाँ संयोग शृंगार के प्रसंग मे संभोग की ही कथा कहने लगे। एक तरफ कल्पना का इन्द्रजाल और दूसरी तरफ कल्पना छूमन्तर। यह विशृंखलता शृंगारी कवियों के विकास में घातक सिद्ध हुई। पंतजी भी इस युग के शृंगारी कवि है, इनके विकास मे भी कल्पना ही प्रमुख वनकर उपस्थित हुई है। पंतजी वियोग वर्णन मे कल्पना का पल्ला भावातिरेक के समय कही कही छोड़ भी देते है, पर संयोग वर्णन मे प्राय. कभी ऐसा नही करते। मध्यकाल के शृंगारी कवियो के विकास से पंतजी के विकास मे यही मौलिक अन्तर है। उनका सयोग पक्ष सर्वत्र कल्पना-प्रसूत होने के कारण अधिक सयमित, शुद्ध और अनुभूतिप्रद हुआ है। पन्तजी इन आस्तिक रचनाओं की मधुरिमा विकास पाकर स्थान-स्थान पर व्यापक आध्यात्मिक भाव-जगत तक पहुँच गई है। वियोग की कल्पना-अनुभूति जिस प्रकार 'परिवर्तन' मे, उसी प्रकार सयोग की कल्पना अनुभूति अनेक लघु दीर्घ रचनाओ मे व्यापक सौन्दर्य की सृष्टि करती है।

आज उन्मद मधु प्रात,
गगन के इन्दीवर से नील,
झर रही स्वर्ण मरन्द समान,
तुम्हारे शयन-शिथिल
सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस, प्राण।

. . ..

आज वन मे पिक पिक मे गान, विटप में कलि, कलि मे सुविकास
कुसुम मे रज, रज मे मधु प्राण, सलिल मे लहर लहर मे लास।

... ...

मुकुल मधुपो का मृदु मधुमास, स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ का सार,
मनोभावो का मधुर विलास विश्व-सुषमा ही का संसार,
दृगो मे छा जाता सोल्लास व्योम-बाला का शरदाकाश,
तुम्हारा आता जब प्रिय-ध्यान, प्रिये प्राणो की प्राण।

इस प्रकार की अनुभूतियां पन्तजी की सौन्दर्य-चेतना मे विशेष रूप से सहायक हुई है। यदि 'परिवर्तन' पंतजी की निराश अनुभूति का निष्कर्ष है तो उनकी संयोग भावना भी 'अप्सरी', 'अनंग' आदि रचनाओं मे परिणति प्राप्त करती है। 'अप्सरी' और 'अनंग' दोनो ही कृतियां सौन्दर्य की चेतना का प्रकाश करती है। जिस प्रकार वियोग के 'इंतहाए नशा' मे होश आने के बाद 'परिवर्तन' लिखा गया उसी प्रकार संयोग का शुद्ध स्वरूप-दर्शन करने के उपरान्त शाश्वत सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति देखने—उसका रहस्य जानने की उत्कंठा भी प्रादुर्भूत हुई। यदि 'मधुवन,' 'भावी पत्नी के प्रति' आदि मे सौन्दर्य का अनुभूति पक्ष है, तो 'अप्सरी,' 'अनंग,' 'प्रथम रश्मि' आदि मे उसी का कल्पना-प्रधान पक्ष है। 'पल्लव' की अपेक्षा 'गुजन' मे कल्पना का सहज सुन्दर उद्रेक उतना नहीं जितनी उपदेशक प्रवृत्ति और पांडित्य का प्रदर्शन है। 'एकतारा' मे उन्होने गहन आत्मदर्शन की 'अभिव्यक्ति' की चेष्टा की है। इस रचना मे तथा 'अप्सरी' मे पंत जी को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है—

तुहिन बिन्दु मे इन्दु-रश्मि-सी सोई तुम चुपचाप,
मुकुल-शयन मे स्वप्न देखती निज निरुपम छवि आप।

(अप्सरी)

चिर अविचल पर तारक अमन्द
जानता नही वह छन्द-बंध
वह रे अनन्त का मुक्त-मीन
अपने असंग सुख मे विलीन—
स्थित निज स्वरूप मे चिर नवीन—

(एकतारा)

पन्तजी के संयोग-शृंगार की एक शाखा जहा 'अप्सरी', 'एकतारा' आदि के रूप मे फूट निकली है, वहाँ दूसरी शाखा उनके प्रकृति-प्रेम की रचनाओ मे देख पड़ती है। प्रकृति का चैतन्य-चित्र तो आधुनिक हिन्दी के कतिपय कवियो की अनुभूति मे आया हैं, पर उन्होने उसे केवल मानुषीय अनुभूतियो का अननुपंगिक वना रखा है। विराट प्रकृति भी विराट मनुष्यता के सामने छोटी वना दी गई है। यह प्रकृति के प्रति सहानुभूतिपूर्ण सजीव भावना नही कही जा सकती। उसे उसके ही क्षेत्र मे—उसके अपने साम्राज्य में—सम्राज्ञी की भाँति देखने की उदारता आधुनिक हिन्दी के कवियो ने नही दिखाई। पतजी इस दिशा मे अग्रसर होने वाले पहले व्यक्ति है। उनकी 'वीचि-विलास', 'मौन निर्मंत्रण', 'वादल' आदि कविताओ मे वैसी सहानुभूति झलकती है। परन्तु प्रकृति को प्रकृति की ओर से देखने की कल्पना पन्त जी में भी निर्लेप रूप से विकसित नही हुई है। प्रकृति के प्रति पन्त जी का आकर्पण, प्रचलित हिन्दी मे सवसे अधिक, तथापि वस्तून्मुखी नही है। 'मौन निमंत्रण' मे प्रकृति की प्रभावशाली प्रेरणा से जो भावनाएं उत्पन्न हुई है, उसे भी पंतजी के छायावाद का एक हल्का रूप कह सकते हैं। इसे प्राकृतिक चित्राकण का काव्य नही कहा जा सकता।

इधर कुछ दिनो से हिन्दी के समीक्षको ने 'जीवन-जीवन' की आवाज ऊँची कर रखी है। इनमे से कुछ तो यह भी नही समझते कि जीवन किसे कहते है और कविता में वह किस रूप मे आ सकता है। कविता 'जीवन' की व्याख्या है—अग्रेजी का यह वाक्य सुनकर वे लोग इसे मुहावरे के तौर पर व्यवहार मे लाते और कहते है कि आधुनिक कविता में—'जीवन' नहीं मिलता। मंभव है इन्ही समीक्षको की तृप्ति के लिए पतजी ने 'गुजन' के कुछ पद्यो म 'जीवन' शब्द का प्रयोग प्रचुर परिमाण मे कर दिया है। इसका परिणाम भी यथोचित मात्रा में निकल गया है—'विशाल भारत' में पतजी के एक समीक्षक की

उक्तियों से ऐसा ही समझ पड़ता है। बहुत संभव है पंतजी के 'जीवन' शब्द के कारण ही ये लेखक यह लिखने को उत्साहित हुए हो कि अब पंतजी की कविता में जीवन आने लगा है। परन्तु पंतजी की कविता की वास्तविक जीवन-व्याख्या लेखक की बुद्धि-परिधि के बाहर की बात देख पडती है। ऐसे समीक्षको से पन्तजी को ही नही, हिन्दी को भी सावधान रहने की आवश्यकता है। जीवन की आस्तिकता, प्रवेग और सहज सौन्दर्य से समन्वित काव्य हमें 'पल्लव' में जितना स्वच्छ और निर्मल दिखाई देता है, गुजन मे उसकी अपेक्षा कम ही।

'एकतारा' और 'नौका विहार' पन्तजी की इन नवीन रचनाओ में, वर्णन का एक नया रूप देख पड़ता है, जिसमे कल्पना का आकर्षण नही स्वयं वस्तु-चित्रण का ही आकर्षण है। शायद इसे अधिक प्राकृतिक कविता कहा जाय। कल्पना की अराजकता यहाँ विक्षेप ही डाल सकेगी इसलिए उसके परिहार की चेष्टा की गई है। विशेषकर 'नौका-विहार' मे पंतजी प्रकृति के रूप-चित्रण की ओर आकृष्ट हुए हैं, किन्तु 'नौका विहार' के वर्णन के उपरान्त कल्पना का यह दार्शनिक निष्कर्ष इतना बोझीला हो गया है कि कविता उसका भार नही सभाल सकती—

इस धारा-सा ही जग का क्रम
शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम

—इत्यादि।

विना इस निष्कर्ष के कविता अधिक सफल होती। इस नवीन दिशा मे कल्पना को अधिक सयमित करके ही अभीष्ट-सिद्धि की जा सकती थी।

'युगान्त' नामक काव्य-पुस्तक मे पंतजी ने अपनी छायोन्मुखी काव्य-रचना से विदा लेने का उपक्रम किया है। इस विदाई के मूल मे पंतजी की वह नवीन जीवन दृष्टि सक्रिय है जो एक सौन्दर्यद्रष्टा कवि को

समाज और राष्ट्र की वास्तविकता की ओर उन्मुख करती है। जबकि महादेवी और वच्चन जैसे कवि अतिशय आत्मोन्मुखी और एक सीमा तक निराशावादी भावनाओ का पल्ला पकडे हुए थे, पतजी युगीन वास्तविकता के अधिक समीप पहुँचने का उपक्रम करने लगे थे। उन्होने 'युगान्त' की कविताओ मे छाया-युग के विसर्जन की जो मनोवृत्ति प्रदर्शित की है वह उनकी प्रगतिशीलता का परिचायक ही कही जाएगी। परन्तु यह पहला मोड है जिसमें किसी निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर कोई सशक्त काव्य-कृति प्रस्तुत नहीं की जा सकती थी। 'युगवाणी' मे पतजी एक कदम और आगे वढ़े हैं। उन्होंने अलकृत पद-रचना का साथ छोडने का संकल्प किया है और एक सीमा तक साथ छोड़ दिया है। किन्तु अवकाश को भरने के लिए जो दूसरे तत्व अपेक्षित थे वे इतनी शीघ्रता से संयोजित नही किए जा सकते थे। इसलिए 'युगवाणी' नई दृष्टि की सूचना तो देती है, पर नए काव्य-विकास के उपकरणों को यथेष्ट मात्रा मे आकलित नही करती। कदाचित् इसीलिए वह गद्यगीतो के नाम से अभिहित की गई है। गाँधी जी के व्यक्तित्व और गाँधीवादी आदर्शों का आभास देकर रह गई है। गाँधी युग की सक्रियता, सघर्षात्मकता और विद्रोह के तत्वो को आत्मसात् नही कर पाई है। 'ग्राम्या' मे कवित्व अधिक है। कदाचित् यह 'युगान्त' और 'युगवाणी' की सक्रिय पूरक है। 'युगवाणी' मे जो कवि की दृष्टि का प्रतिवर्तन दिखाई दिया है, उसे साकारता और काव्यात्मक साकारता देने मे 'ग्राम्या' एक हद तक सफल हुई है। इसका सारा रूप विन्यास साहित्यिक है, केवल विचार-प्रधान नही। परन्तु यहां एक अन्य वैचारिक सघर्ष जो गाधीवाद और मार्क्सवाद का लेकर उत्पन्न हुआ था, एक दूसरे प्रकार का विक्षेप उत्पन्न कर देता है। पंतजी जब तक एक भावभूमि पर स्थिर नही होते तब तक दूसरी भूमिकाएँ उन्हे आन्दोलित करने लगती हैं और इस प्रकार विचारो के संघर्ष से काव्य मे जो समग्र एकरसता आनी चाहिए, नही आ पाती है। कदाचित् इसीलिए पंतजी

'ग्राम्या' मे भी कतिपय सुन्दर रचनाओ के रहते हुए कुछ-सामान्य प्रगीतो को भी सम्मिलित कर लेते हैं। 'भारतमाता गामवासिनी' की तुलना मे धोबियो के गीत अथवा लोकधुन पर आधारित रचनाएँ इसी हल्की मनोभावना की परिचायक हैं। कुल मिलाकर 'ग्राम्या' गभीर और हल्की कविताओ का एक वेमेल सग्रह वन गई है।

गाँधीवादी और मार्क्सवादी विचारो के ऊहापोह के पश्चात् पतजी कदाचित् इन दोनो को छोड वैठे और एक अन्य भावात्मक दर्शन मे प्रविष्ट हुए जिसे अरविन्ददर्शन कहा जाता है। गाँधीजी के साथ जिस महान सक्रियता का योग है, उस पक्ष को छोड़कर पंतजी केवल उनकी अहिंसा को अपना सके थे। मार्क्सवाद मे जिस निस्सग भौतिक विकास का निर्देश है, उसके केवल एक सवेदनात्मक पक्ष तक ही पतजी की पहुच थी। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि पंतजी ने गांधीवाद या मार्क्सवाद के तत्वदर्शन को किसी गंभीर रूप में अपनाया था। अत-एव जब वे इस अन्तर्वर्ती समय को पार कर सन् ४२ के आसपास 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्णकिरण' की अरविन्दवादी काव्य-रचनाओ मे प्रवृत्त हुए तो हमे आश्चर्य करने का कोई कारण न था। ठोस पृथ्वी की प्रखरता और प्रचण्डता या मानव वैपम्य की कुरूपता पतजी के काव्य को प्रगाढ उत्तेजना नही दे सकी। इसके वदले उनके कल्पनाशील व्यक्ति को अरविन्ददर्शन के स्वर्णिम भविष्य के स्वप्नो ने आकृष्ट कर लिया। पतजी की प्रकृति के यही अनुकूल था। परन्तु किसी दर्शन को स्वीकार करना एक वात होती है और उसको काव्यरूप मे निर्मित कर देना दूसरी वात होती है। पंत जी अरविन्ददर्शन को काव्य का स्वरूप देने मे निरन्तर प्रयत्नशील रहे हैं। आरम्भ मे उन्हे आंशिक सफलता ही मिली। इसीलिए 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' मे वैचारिक और सैद्धा-न्तिक शब्दावली ज्यो की त्यो रक्खी मिलती है। इन कृतियो मे प्रगीत काव्य की सहजता और सौष्ठव नही है। इन्ही रचनाओ मे आधुनिक विज्ञान संबंधी कुछ शाखाओ के अध्ययन का आंशिक परिणाम भी

कतिपय - रचनाओ मे दिखाई पड़ता है। मानव-विकास-विज्ञान और नृतत्वशास्त्र के आशिक उपकरण भी मिलते हैं, परन्तु सर्वत्र इतिवृत्तात्मक तथ्यो का ही निर्देश हो पाया है। भावसंवेदन के लिए अवकाश नही मिला है।

'उत्तरा', 'रजत-शिखर' और 'वाणी' संग्रहो मे पतजी क्रमशः काव्य के अधिक समीप पहुचने लगे है, जिसका आशय यह है कि वे कोरे दार्शनिक चिन्तन से प्रेरित न होकर मानव अनुभूतियो के सम्पर्क मे आने लगे है। 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' के लम्वे दडक छंद इन रचनाओ में आकर अधिक छोटे और भावाकलन के योग्य वन गए है। परन्तु अकाव्योचित पदावली का प्रभाव यहा भी बना हुआ है। एक स्वच्छन्द कवि के लिए, विशेपकर पंत जैसे भावुक और कल्पनाजीवी कवि के लिए, विचार-मथन की भूमिकाएं उपादेय नही होती, इसका प्रमाण इन कृतियो मे भी मिलता है।

'कला और वूढा चाद' मे पंतजी ने फिर से वास्तविक काव्य-दिशा का प्रत्यय पाया है। इस काव्य-संग्रह में उनकी रचनाएँ अधिक स्वच्छन्द है। इन रचनाओ पर दर्शन का अतिरिक्त वोझ नही रह गया है। यद्यपि उनमे दार्शनिकता है पर ये अधिक काव्यात्मक हैं। इस रचना मे मुक्त छदो का प्रयोग काव्यसहजता का परिचायक है। पूर्ववर्ती कृतियो मे छदो के शिकजे मे बधकर पतजी की दर्शन-प्रमुख सृष्टिया कृत्रिम और काव्यहीन वनती जा रही थी। केवल अकाव्यात्मक पद विन्यास ही नही, अनावश्यक पद-रचना भी, भार वनकर आई थी। इस अतिम कृति मे पतजी उस भारवाहिता से मुक्त हो चले है। प्रतीकवादी कवियो की भाति पतजी ने 'कला और वूढा चाद' मे सुन्दर विम्वो का उपयोग भी किया है और ऐसा जान पड़ता है कि पतजी का दर्शनाक्रान्त काव्य-युग वीत गया है और अव वे नई, गंभीरतर और स्वच्छतर काव्य-भूमिका के समीप पहुच गए हैं।

सन् ४० के पश्चात् पंतजी का व्यक्तित्व उत्कट वैचारिक संघर्षो के पश्चात् जिस भूमिका पर आकर स्थिर हुआ वह मूलत. दर्शन की भूमिका ही कही जाएगी। काव्य और दर्शन के इस संघर्ष मे दर्शन की विजय हुई, यह सत्य स्वीकार करना ही होगा। ऐसे बहुत कम उदाहरण साहित्य के इतिहास मे प्राप्त होते है, जब एक श्रेष्ठ कवि काव्य और दर्शन के सघर्ष में दर्शन को विजयी होने देता। वर्ड्सवर्थ का एक उदाहरण अंग्रेजी काव्य मे मिलता है, जो विशिष्ट कवि होकर भी अपने परवर्ती जीवन मे दर्शन-शास्त्र से अभिभूत हो गया था। समीक्षको ने कवि वर्ड्सवर्थ की इस पराजय पर अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाए व्यक्त की है। कुछ ने इस परिवर्तन को वस्तुमुखी दृष्टि से स्वीकार कर उसे एक युग-मसीहा के रूप मे उद्घोपित किया है। कुछ अन्य आलोचको ने उसे मानवतावादी, नीतिवादी अथवा धार्मिक कहकर आँसू पोंछने की चेष्टा की है। परन्तु काव्य के इतिहास-लेखक यह स्वीकार करते है कि इन समस्त उदात्त वादो के रहते हुए भी वर्ड्सवर्थ एक कवि के रूप मे समान स्तर का निर्माण और निर्वाह नही कर पाया। युग की मतवादी दृष्टियां कवि को कहाँ से कहाँ ले जा सकती हैं, वर्ड्सवर्थ इसका एक उदाहरण है। पंतजी के संबंध मे कोई अन्तिम बात अभी नही कही जा सकती, क्योंकि वे अब भी सक्रिय रूप से काव्यक्षेत्र मे खड़े हैं।

पिछले कुछ वर्षो मे जब कभी पतजी से मेरी भेंट हुई है, मैंने उनके व्यक्तित्व को उदास और स्वास्थ्य को शिथिल पाया है। अभी कुछ वर्ष पहले प्रयाग की 'परिमल' गोष्ठी में मैं उद्घाटनकर्ता बनकर गया था। अन्य अनेक साहित्यकारो के साथ पन्तजी भी वहाँ उपस्थित थे। लेखक के स्वातन्त्र्य की समस्या पर विचार-विमर्श हो रहा था। मुझे स्मरण है कि मैंने देश की वर्तमान स्थिति मे स्वातन्त्र्य की इस समस्या को एक कृत्रिम समस्या कहा था, क्योंकि लेखको के स्वातन्त्र्य पर किसी प्रकार का संकट न है, न होने की सम्भावना है। वैसी स्थिति में इस

समस्या को उपस्थित करने वाले लेखको की मनोभावना किस दिशा में जा रही है, यह समझना कठिन है। कभी-कभी स्वतंत्रता सीमा के बाहर भी जा सकती है, इस आशंका को प्रकट करने के पश्चात् जब मैने अपना वक्तव्य समाप्त किया, तब पंत जी भी बोलने उठे और उन्होने कवि के स्वातन्त्र्य का पक्ष लेकर बड़ा सुन्दर वक्तव्य दिया। मुझे उनके भाषण से बड़ी प्रसन्नता हुई, क्योंकि मैंने यह सोचा कि पन्तजी के अवचेतन मे अब भी कवि के स्वातन्त्र्य की प्रेरणा बनी हुई है। फिर मैं यह सोचने लगा कि स्वातन्त्र्य भी कितने प्रकार का और बन्धन भी कितने रूपो के हुआ करते हैं, केवल राजनीतिक बधन ही सब कुछ नही है। विचारों और मतवादों के बन्धन भी कम नृशंस नही होते। इस युग के अनेक कवियों पर ये वैचारिक बन्धन बोझ बनकर छाये हुए हैं। पन्तजी ने उस दिन अपने वक्तव्य मे प्रत्येक प्रकार के बन्धन से कवि और लेखक को मुक्त रखने की बात कही थी। शायद उनकी मूल चेतना मे अन्य बंधनो के साथ इन वैचारिक बन्धनो से त्राण पाने की बलशाली इच्छा विद्यमान थी। तो क्या पन्तजी अब भी काव्य और दर्शन के सघर्ष को सुलझाने में लगे हुए हैं ? क्या वे अब भी कवि और काव्य की स्वतन्त्रता के अभिलाषी है ? यदि ऐसा है तो इससे अधिक प्रसन्नता की बात दूसरी नही हो सकती है।

पिछले कुछ वर्षों से पंतजी आकाशवाणी केन्द्र मे हिन्दी कार्यक्रमो के संचालक रहे है। इस पद पर कार्य करते हुए उन्होने हिन्दी काव्य-संगीत के स्तर का बड़ी मात्रा मे उन्नयन किया है, यद्यपि बहुत से अच्छे कवि गायक छूट भी गए हैं। इस अवधि मे पंतजी की अनेक काव्य और रेडियो नाटक प्रसार के उद्देश्य से प्रस्तुत किये गए। उनमे कुछ तो पंतजी के स्तर के अनुरूप हैं, पर बहुत सा भरती का काम उन्हे इस बीच करना पड़ा है, सरकारी सस्थाओ मे रहकर ऐसा करना ही पड़ता है। यद्यपि पंतजी के सहयोग से हिन्दी कार्यक्रमो का सामूहिक

महादेवी वर्मा

'यामा' महादेवी वर्मा का सम्पूर्ण काव्यसग्रह है। इसके चार यामो मे उनकी चारो स्फुट रचना-पुस्तके सगृहीत है। इनके अतिरिक्त महादेवी जी की एक ही अन्य रचना दीपशिखा प्रकाश में आई है। अवश्य यहाँ मेरा मतलब केवल उनकी काव्य-रचनाओं से है। ये सब की सब मुक्तक-पद्य और गीत रूप मे है, जिनकी सख्या दो सौ से कुछ कम है। साथ ही 'यामा' मे महादेवीजी की लिखी भूमिकाएँ और उनके बनाये कितने ही चित्र है, जिनसे उनके काव्य पर आवश्यक प्रकाश पड़ता है।

अच्छा होता यदि हम बिना कोई भूमिका बाँधे ही 'यामा' का अध्ययन आरम्भ कर सकते, किन्तु ऐसा करने मे एक कठिनाई दीखती है। 'यामा' और 'दीपशाखा' केवल सग्रहपुस्तके ही नही है, उनमे महादेवीजी का पूरा काव्य-व्यक्तित्व ही निहित है। इस व्यक्तित्व को हम नवीन काव्यधारा से एकदम अलग कर नही देख सकते। साम्य और वैषम्य के वे सूत्र हमे संक्षेप में देखने होगे जिनके द्वारा महादेवीजी सामयिक काव्यजगत् से बँधी हुई है। उनके लिए एक छोटी-सी, उपयुक्त, 'सेटिंग' हमे तैयार करनी होगी।

हिन्दी मे महादेवीजी का प्रवेश छायावाद के पूर्ण ऐश्वर्य-काल मे हुआ था, किन्तु आरम्भ से ही उनकी रचनाएँ छायावाद की मुख्य विशेषताओं से प्राय. एकदम रिक्त थी। मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य मे आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। इस व्याख्या मे आये 'सूक्ष्म' और 'व्यक्त' इन अर्थगर्भ शब्दो को हम अच्छी तरह समझ ले। यदि वह सौन्दर्य सूक्ष्म नही है, साकार होकर स्वतंत्र क्रियाशील है, और

श्री महादेवी वर्मा

आधुनिक काव्य :
रचना और विचार

किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है, तो हम उसे छाया-वाद के अंतर्गत नही ले सकेंगे। छायावाद के इस सीमात पर हम स्काट और वाइरन जैसे अँगरेजी के कवियो को पाते है जिन्होने विमोहक और तल्लीनताकारी नारी-सौन्दर्य को लम्बी कथाओ के सूत्र मे ताना है, और प्रकृति की अनिर्वचनीय सुषमा को पृष्ठभूमि बनाकर चित्रित किया है। वे प्रकृत छायावादी नही कहे जा सकते और छायावाद के दूसरे सीमात पर हम वर्ड्सवर्थ को देखते है जिसकी प्रकृति के प्रति इतनी सार्वत्रिक प्रीति है कि वह व्यक्त सौन्दर्य के प्रति निस्पन्द, बेपह-चान, निगूढ-सी मालूम देती है, सब कुछ तो सुन्दर ही है, ऐसी भाव-मयता मे मग्न-सी हो गई है। वह भी प्रकृत छायावादी नही है। प्रकृत छायावादी तो अँगरेजी मे प्राकृतिक सूक्ष्म सौन्दर्य-भावना का एकमात्र अधिष्ठाता 'शेली' ही हुआ है, जो एक ओर कुछ समीक्षको द्वारा (जो सूक्ष्म के विरोधी हैं) हवाई और आसमानी बताया गया है; किन्तु दूसरी ओर जिसे नास्तिक (अव्यक्त सत्ता का विरोधी) कहे जाने का श्रेय भी प्राप्त है। आशा है, छायावाद की इस मध्यवर्तिनी भूमि पर पाठको की दृष्टि गई होगी।

मुझे आशा नही है कि छायावाद की मेरी यह व्याख्या निकट भविष्य में सर्वमान्य हो सकेगी, किन्तु इसकी दार्शनिक और काव्यात्मक शैली इतना सुस्पष्ट व्यक्तित्व रखती है और यह अन्य निकटवर्ती वादो से इतना पृथक् अस्तित्व बनाये हुए है कि कोई कारण नही कि यह आखिरकार एक अलग वाद के रूप मे स्वीकार न कर लिया जाय। सप्रति हिन्दी के अधिकाश समीक्षक छायावाद और रहस्यवाद के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नही कर रहे। नवीन काव्ययुग के निर्माता स्वर्गीय प्रसादजी का इस विषय का विवरण विशेष ध्यान देने योग्य है। वर्तमान रहस्यवाद के सम्बन्ध मे वे लिखते है—"विश्वसुन्दरी प्रकृति मे चेतनता का आरोप संस्कृत वाङमय मे प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौन्दर्यलहरी के 'शरीरं त्वं शम्भो' का अनु-

करण मात्र है। वर्तमान हिन्दी मे इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमे अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अह' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।"

अब, विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतनता की भावना सार्वत्रिक भी हो सकती है और एक-एक सुन्दर वस्तुगत भी हो सकती है। शम्भु अथवा आत्मा का शरीर सृष्टिप्रसार ही है, इस दृष्टि से व्यक्त वस्तु-मात्र में सौन्दर्य की एक ही धारा प्रवाहित है। प्रकृति में कुछ भी असुन्दर नही, यहाँ व्यष्टि-भेद नही है। पुन. प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं (आत्मा) का इदम् (प्रकृति) से समन्वय करने का प्रयत्न व्यष्टि सौंदर्य को स्वीकार करता है। इस प्रकार प्रसादजी ने व्यष्टि सौंदर्य-दृष्टि (छायावाद) और समष्टि सौंदर्य-दृष्टि (रहस्यवाद) मे कोई स्पष्ट अन्तर नही किया। किन्तु मैं इस अन्तर का विशेष रूप से आग्रह करता हूँ क्योकि इसने दो विशेष पृथक्-पृथक् काव्यशैलियो की सृष्टि की है। व्यष्टि सौन्दर्यबोध एक सार्वजनीन अनुभूति है। यह सहज ही हृदयस्पर्शी है, यह सक्रिय और स्वावलम्बिनी काव्यचेतना की जन्मदात्री है। इसे मैं प्राकृतिक अध्यात्म कह सकता हूँ। समष्टि सौदर्यबोध उच्चतर अनुभूति है। फिर भी यह प्रत्येक क्षण रूढ होने की सम्भावना रखती है। इसमे इन्द्रियानुभूति की सहज प्रगति या विकास के लिए स्थान नही है। यह कदम-कदम पर धर्म के कठघरे मे वन्द होने की अभिरुचि रखती है।

काव्य में यह रहस्यवाद, वडे-वड़े दुर्दिन देख चुका है। अपने अतिप्राकृत स्वरूप के कारण पहले तो इसकी अभिव्यक्ति ही अतिशय दुर्गम और दुरूह है, किन्तु कुछ सच्चे रहस्यवादियों ने कुछ अनोखे रास्ते निकाले भी तो उन पर चलनेवाले बहुत से झूठे रहस्यवादी नकलनवीस निकल आये। उन्होने काव्य की पूरी-पूरी अधोगति कर डाली। सारी

प्रकृति को समाहित करने वाली निर्गुण प्रेम की विशुद्ध व्यंजना विषय-वासना का नंगा नाच बन कर रह गई। उपनिषदो का ऊर्जस्वित आत्मवाद संपूर्ण कर्तव्यों से हाथ समेटने का वहाना सिद्ध हुआ। योग और तंत्र शास्त्रों की प्रकृति को आत्मा मे लय करने की सारी प्रक्रिया जो पूर्ण मनुष्यत्व का साधन थी अनहोनी सिद्धियो और तामसिक उपचारो का दूसरा नाम वन गई। शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आत्मिक सवलता का प्रचारक रहस्यवाद 'ना घर मेरा ना घर तेरा चिड़िया रैन वसेरा' गा कर भीख माँगने वालो का ब्रह्मास्त्र वन गया। एक ओर तो यह नकली रहस्यवाद की प्रगति हुई और दूसरी ओर रूढिवद्ध होकर रहस्यकाव्य विनय के पदों, भक्तिगीतों, धार्मिक आख्यानो आदि में परिणत हो गया। अवश्य ही ईरान और फ़ारस के कुछ सूफी कवियो और भारत के कुछ निर्गुणियो ने रहस्य-काव्य की वास्तविक मर्यादा स्थिर रक्खी किन्तु उनकी संख्या अँगुलियों पर गिने जाने के योग्य है। यह इतनी भी है, यह कम गौरव की वात नही क्योकि हम कह चुके हैं कि रहस्यानुभूति एक अति विरल वस्तु है और उसकी काव्य-प्रक्रिया भी उतनी ही दुरूह और दु:साध्य है।

महादेवी जी एक स्थान पर लिखती हैं—मानवीय सम्वन्धों मे जव तक अनुरागजनित आत्मविसर्जन का भाव नही घुल जाता तव तक वे सरस नही हो पाते और जव तक यह मधुरता सीमातीत नही हो जाती तव तक हृदय का अभाव दूर नही होता। इसी से इस (प्राकृतिक) अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान वना जिसे रहस्यमय रूप के कारण रहस्यवाद का नाम दिया गया।' मधुरतम व्यक्तित्व की यह नियोजना महादेवीजी के काव्य मे मौजूद है किन्तु उसके निकट आत्मनिवेदन करने वाले वहुत से भक्त कवि हो गये हैं जिनका धार्मिक दृष्टि से पर्याप्त आदर है किन्तु जिन्हें रहस्यकाव्य का

स्रष्टा नही कहा जा सकता। स्पष्ट है कि महादेवीजी ने अपने इस कर्तव्य मे आवश्यक सतर्कता से काम नही लिया। यही नही, उन्होने रूढिबद्ध धार्मिक काव्य और वास्तविक रहस्य काव्य का स्पष्ट अन्तर सदैव अपने सामने नही रखा है जिससे उनकी रचनाओं मे स्थान-स्थान पर प्रकृत आध्यात्म की जगह रूढि के चिह्न मिलते है।

जब उस मधुरतम व्यक्तित्व के प्रति आत्मनिवेदन का क्रम आरंभ हुआ तब तो काव्य स्पष्टतः धार्मिक घेरे मे आ गया। यहाँ मेरा मतलब उन विनय गीतो से है जिनका कृष्णकाव्य मे भी प्राचुर्य है और जिनसे तुलसीदासजी की 'विनय-पत्रिका' भरी हुई है। इस प्रकार के काव्य में प्रकृत रहस्यात्मक अनुभूतियो की टोह लगाना व्यर्थ श्रम है। मूर्त प्रतीको मे अलौकिक अमूर्त्त तत्व का साक्षात्कार करानेवाली समुन्नत रहस्य-कला उसमे हम नही पाते। धार्मिक काव्य की दृष्टि से उनका आदर सदैव रहेगा, किंतु रहस्य-काव्य की दृष्टि से नही।

ऊपर मै प्रसंगवश कह चुका हूँ कि महादेवीजी के काव्य मे छायावाद-युग की विशेषताएँ नही मिलती। प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति 'पल्लव' वाले पतजी का सा विमोहक आकर्षण उनमे नही, इसके बदले वे प्रकृति के एक-एक रूप या उसकी एक-एक वृत्ति को साकार व्यक्तित्व देकर उनके व्यापारो की कल्पना करती है जिनमे उनकी समृद्ध कल्पना-शीलता प्रकट हुई है। अवश्य यह कल्पना-वाहुल्य ही छायावाद-युग की एक विशेषता उनके काव्य मे दीखती है। किंतु वे कल्पनाएँ सब जगह सीधी और चोट करने-वाली नही हैं, उनका प्रत्यक्ष रूप सहज आँखो के सामने नही आता। कही-कही तो उन प्रतीको का वह कल्पित व्यापार हमारे सौदर्य-सस्कारो के प्रतिकूल पड जाता है और कही-कही वह इतना क्लिष्ट होता है कि हम ईप्सित सौदर्य की झाँकी नही पा सकते। इन दोनों का एक-एक उदाहरण मैं देना चाहता हूँ—

रजनी ओढ़े जाती थी, झिलमिल तारों की जाली।
उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली॥

यह प्रभात का दृश्य है। रजनी का झिलमिल तारों की जाली ओढकर जाना, वड़ी ही सरल और मार्मिक कल्पना है। किंतु उजियाली का रोना हम साधारणतः कही नही देखते ? वह प्रायः हँसती ही आती है। यहाँ हमे अपनी अभ्यस्त अनुभूतियों को दबाकर यह कल्पना करनी पड़ती है कि प्रभातकाल की नमी अथवा ओस—आँसू के रूप मे उजियाली रो रही है।

क्लिष्ट कल्पना का एक उदाहरण यह भी है :—

निश्वासों का नीड़ निशा का वन जाता जब शयनागार।
लुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के वंदनवार॥
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार।
आँसू से लिख-लिख जाता है कितना अस्थिर है संसार॥

आकाश मे रात्रि के समय अचानक वादल छा गये है और पानी बरसने लगा है। इसी अवस्था की कल्पना यह जान पड़ती है अथवा यह रात्यंत की कल्पना है। रात्रि के मुक्तावलियो के अभिराम वंदनवार (तारिकापंक्ति), छिन्न होकर लुट गये हैं। निश्वासो का नीड़ उसका शयनागार वन गया है (रात्रि दु खपूर्ण निश्वास ले रही है)। तारे बुझ रहे हैं, बूंदें गिरने लगी हैं, वही मानो बुझते तारो के नीरव नयनो का हाहाकार और उसके आँसू है जिनके द्वारा यह लिखा जा रहा है, 'संसार कितना अस्थिर है !' कितनी कल्पना हमे ऊपर से करनी पड़ती है, विचार कीजिए ?

जिस क्षण को महादेवीजी की कल्पना ने पकड़ा है—तारो से हँसते हुए आकाश में सहसा मलिन वादलो का छा जाना, अथवा निशान्त में तारो का डूबना, वह काव्योपयुक्त और अति सुन्दर है, किन्तु क्या यही बात उनके इस चित्रण के सम्बन्ध में कही जा सकती है ?

इसके दो कारण मुझे दीखते हैं। एक तो यह कि महादेवीजी की कविताएँ इतनी अन्तर्मुख है कि वे प्रकृति के प्रत्यक्ष स्पंदनों, उनकी ध्वनियों और संकेतों से सुपरिचित नहीं; और दूसरा यह कि वे काव्य के एक-एक वन्द को एक-एक चित्र के रूप में सजाना चाहती है, जिसमें वस्तुओं और व्यापारों की योजना संश्लिष्ट हुआ करती है और चूँकि वे मानसिक वृत्तियों और वातावरणों को भी उन्हीं वस्तु व्यापारों के द्वारा ध्वनित करना चाहती हैं, इसलिए यह कार्य उनके लिए दु:साध्य हो जाता है। उनके इन दीर्घ चित्रणों की तुलना अन्य प्रमुख छायावादियो से कीजिए तो अन्तर आप दीखेगा—

देख वसुधा का यौवन भार, गूँज उठता है जब मधुमास।
विधुर उर के से मृदु उद्गार, कुसुम जव खुल पड़ते सोच्छ्वास।
न जाने सौरभ के मिस कौन संदेशा मुझे भेजता मौन।
—सुमित्रानंदन पंत ('मौन निमंत्रण')

अथवा—

पवन में छिपकर तुम प्रतिपल, पल्लवों में भर मृदुल हिलोर।
चूम कलियों के मुद्रित दल, पत्र-छिद्रों में गा निशि-भोर॥
विश्व के अन्तस्तल में चाह, जगा देती हो तड़ित-प्रवाह॥
—निराला ('स्मृति')

अवश्य ये चित्र अधिक हल्के और अनलंकृत हैं, इनमें सूक्ष्मतर रूप-योजना और भावव्यजना की वह महत्वाकांक्षा भी नहीं है, यह हम स्वीकार करेंगे, किन्तु तव हम महादेवीजी से कहेगे कि वे अपनी उच्च-तर कला-आकांक्षा के उपयुक्त सामग्री का भी संचय करें। यह कहना भी उचित न होगा कि जिस सूक्ष्मतर भावभूमि के चित्र महादेवीजी देती हैं उसमे अस्पप्टता अनिवार्य है। अस्पष्टता काव्य का कोई गुण नहीं है, यह चित्रण की दुर्वलता ही है। अस्पप्ट, छाया-भावो का चित्रण भी

सुस्पष्ट, मोती के पानी जैसा भीतर से दमकता और नैसर्गिक होना चाहिए। काव्य की विशेषता तो इसी मे है।

महादेवीजी ने भी जहाँ अलकृत चित्राकण छोड़कर सीधा रास्ता पकड़ा है, वहाँ बडी सजीव कविता का स्रोत वह चला है—

स्वर्ग का था नीरव उच्छ्वास, देव वीणा का टूटा तार।
मृत्यु का क्षणभंगुर उपहार, रत्न वह प्राणों का शृङ्गार॥
नई आशाओं का उपवन, मधुर वह था मेरा जीवन।

और जहाँ वे कल्पना के अर्द्धस्फुट या दुरूह उपमानों को छोड़कर इसी सरलता के साथ रूपांकण भी करने लगी हैं (यद्यपि ऐसे स्थल बहुत थोड़े हैं) वहाँ उनके चित्र खूब साफ आये हैं; जैसे—

जाग जाग सुकेशिनी री,
अनिल ने आ मृदुल हौले शिथिल वेणी बंध खोले;
पर न तेरे पलक डोले। बिखरती अलकें झरे जाते
सुमन वर वेषिनी री।
छाँह में अस्तित्व खोये, अश्रु के सब रंग धोये।
मंदप्रभ दीपक सँजोये, पंथ किस का देखती तू,
अलस स्वप्न निवेशिनी री!

पाठक देखेंगे कि यह सौन्दर्य-चित्रण आध्यात्मिक रहस्य-मुद्राओं से परिपूर्ण है, इसे छायावाद की परम्परा मे हम नही ले सकते। इसमें एक विलक्षण उदासीनता, सात्विकता, शान्ति और निश्चलता झलकती है। छायावाद की चेतनता, चाचल्य और चटक इनमें नही। महादेवीजी के काव्य की यह एक सार्वत्रिक विशेषता है।

किन्तु महादेवीजी की अधिकाश रचनाओ मे ऊपर के-से भाव-सकेतक रूपचित्र नही मिलते, भावो का चित्रण ही प्रधानतः मिलता है। मेरी अपनी दृष्टि से रूपचित्रण की सहायता बिना रहस्यवाद की काव्य-कला का पूर्ण प्रस्फुटन नही हो सकता। जो स्वयं अदृश्य वस्तु है उसे

अस्फुट उपमानो से व्यक्त करना, पाठकों को काव्य-रस से अंशतः वंचित ही रखना है। जैसे 'वेसुध' पीडा के सम्बन्ध मे ये पंक्तियाँ—

इसमें अतीत सुलझाता अपने आँसू की लड़ियाँ
इसमें असीम गिनता है वे मधुमासों की घड़ियाँ

किन्तु इनकी गणना कहाँ तक की जाय, यह महादेवीजी की प्रधान काव्य-शैली ही है। तो भी इसके अन्दर कुछ उच्चकोटि की रचनाएँ भी उन्होने की है। जहाँ व्यक्त रूप किसी न किसी प्रकार आ गये हैं वहाँ रचना प्रायः सुन्दर हुई है—

किसी नक्षत्र लोक से टूट,
विश्व के शतदल पर अज्ञात।
ढुलक जो पड़ी ओस की बूंद,
तरल मोती-सा ले मृदु गात—

नाम से जीवन से अनजान,
कहो क्या परिचय दे नादान!

अथवा—

स्मित तुम्हारी से छलक यह ज्योत्स्ना अम्लान,
जान कब पाई हुआ उसका कहाँ निर्माण!
अचल पलकों में जड़ी सी तारिकाएँ दीन,
ढूँढ़तीं अपना पता विस्मित निमेष विहीन।

... ...

कौन तुम मेरे हृदय में?
कौन मेरी कसक में नित मधुरता भरता अलक्षित?
कौन प्यासे लोचनों में घुमड़ घिर झरता अपरिचित?
अनुसरण निश्वास मेरे कर रहे किसका निरन्तर?
चूमने पदचिन्ह किसके लौटते यह श्वास फिर-फिर?

यह पिछला पद प्रसादजी के 'कौन हो तुम इसी भूले हृदय की चिर खोज ?' का स्मरण दिलाता है, यद्यपि महादेवीजी और प्रसादजी की रहस्यभावना मे यह सुस्पष्ट अन्तर है कि महादेवी जी का झुकाव सदैव करुणा और भक्ति की ओर रहता है जब कि प्रसादजी प्रायः तादात्म्य (वही तू है) का संकेत करते है।

'मत अरुण घूँघट खोल री' और 'शृंगार कर ले री सजनि' रहस्यात्मक रूपविन्यास के सुन्दर उदाहरण है।

'साध्यगीत' में दार्शनिक एकाग्रता उच्चतर हो उठी है, किन्तु काव्य-उपादान उतनी ही मात्रा मे समृद्ध नही हो पाया। इसीलिए सम्भवतः इन गीतो की रहस्यभावना ही प्रधान स्थान पा गई है, उपयुक्त रूप-योजना उन्हे नही मिल सकी। भावना का वैसा ही विकास होते हुए भी 'सांध्यगीत' मे और महाकवि रवीन्द्र की 'गीतांजली' मे दो मुख्य अन्तर हैं। उनकी अजेय काव्यशक्ति कभी उनकी भावना का साथ नही छोड़ती। भावना की दौड़ में पिछड़ जाने पर ही काव्य को—

पंकज कली, पंकज कली
क्या तिमिर कह जाता करुण
क्या मधुर दे जाती किरण!

जैसी अन्योक्ति पद्धति पकड़नी पड़ती है। यद्यपि यह अन्योक्ति ऊँचे दर्जे की है, किन्तु अन्योक्ति कितने ही ऊँचे दर्जे की हो, उसकी काव्य से भिन्न बौद्धिकता बिना खटके नही रह सकती। दूसरी बात यह है कि रवि बाबू की रचनाओ मे कल्पना की जो एकतानता, जो प्रसार, जो अटूट शृंखला मिलती है वह इन गीतो मे उतनी नही। तो भी छोटे-छोटे टुकड़ो मे अपने ढंग की सफाई और काफी काम महादेवीजी के बहुत से गीतों मे मिलता है।

प्रसाद के 'आंसू', निराला की 'स्मृति' जैसी उदात्त और एकतान कल्पना तथा 'पल्लव' का-सा सौंदर्योन्मेष महादेवीजी मे नही है; किन्तु

इस स्पष्टीकरण में महादेवीजी ने सुख और दुःख के स्वरूप को अस्पष्ट ही रख छोड़ा है। उन्होंने दु.ख के आध्यात्मिक स्वरूप और सुख के भौतिक स्वरूप को सामने रखकर विचार किया है। किन्तु इसके विपरीत सुख एक आध्यात्मिक और दुःख का भौतिक स्वरूप भी है जिसकी ओर उनकी दृष्टि नही गई। दुःख की तामसिक, राजसिक और सात्त्विक तीनो अभिव्यक्तियाँ हो सकती है, उसी प्रकार सुख की भी। यह सब कुछ उस संवेदन पर अवलम्बित है जिससे सुख और दुःख का निःसरण होता है। महात्मा बुद्ध ने दुःखवाद को आध्यात्मिक अर्थ में लिया है, उसी प्रकार भारतीय दर्शनो ने 'आनन्द' का आध्यात्मीकरण कर लिया है। इसलिए भौतिक आधार पर सुख और दुख का जो व्यतिरेक (या 'कट्रास्ट') महादेवीजी ने ऊपर दिखाया है, उसे मैं उनकी व्यक्तिगत सात्त्विकता का परिणाम मान सकता हूँ। उसे दार्शनिक सत्य या काव्य-कसौटी मानने के लिए मै तैयार नही हूँ।

यह स्त्रियोचित सात्त्विकता भी महादेवीजी के काव्य की सार्वत्रिक विशेषता है। इससे उनके काव्य को एक सुन्दर कान्ति मिली है; यद्यपि कही-कही अति सरलता, सौन्दर्य स्पर्श से वचित भी रह गई है। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, महादेवीजी की वेदना पहले व्यक्तिगत भावुकता अथवा रूढ़ि भक्तिभावना के रूप मे रही है जो क्रमशः निखरती गई है। अब मैं इनके एक-एक उदाहरण दूँगा—

भावुकता का स्वरूप निम्नाकित 'फेसी' मे प्रकट हुआ है—

> चाहता है यह पागल प्यार, अनोखा एक नया संसार।
> कलियों के उच्छ्वास शून्य में ताने एक वितान,
> तुहिन-कणो पर मृदु कंपन से सेज बिछा दें गान—
> जहाँ सपने हो पहरेदार, अनोखा एक नया संसार।

रूढिगत भक्ति भावना मुझे वहाँ दीखती है जहाँ महादेवीजी ने रहस्यमय आध्यात्मिक सत्ता को स्थूल उपास्य का रूप दे दिया है अथवा जहाँ

प्राकृतिक सौदर्य का, जिसमें कवि-हृदय बिना मुग्ध हुए नही रहता, स्थान-स्थान पर प्रतिषेध किया है।

निराली कलकल में अभिराम, मिलाकर मोहक मादक गान।
छलकती लहरों में उद्दाम, छिपा अपना अस्फुट आह्वान।
न कर हे निर्झर भंग समाधि, साधना है मेरा एकान्त।

किन्तु नीचे के पद्य मे रूढ़िरहित आध्यात्मिक निरूपण है :—

छाया की आँख-मिचौनी, मेघों का मतवालापन,
रजनी के श्याम कपोलों पर ढरकीले श्रम के कन।
फूलों की मीठी चितवन, नभ की ये दीपावलियाँ,
पीले मुख पर संध्या के वे किरणों की फुलझड़ियाँ।
विधु की चाँदी की थाली मादक मकरंद भरी-सी,
जिसमें उजियारी रातें लुटती घुलती मिसरी-सी।
भिक्षुक से फिर जाओगे जब लेकर यह अपना धन,
करुणामय तब समझोगे, इन प्राणो का महँगापन।

'न थे जब परिवर्तन दिन-रात, नही आलोक तिमिर थे ज्ञात' से आरम्भ होनेवाला पूरा गीत भी रूढ पद्धति पर बना है किन्तु आगे चल कर जहाँ वेदना तपकर निखर उठी है, वहाँ रूढि का लेश भी नही दीखता और काव्य ऊँचे धरातल पर आ पहुँचा है। यहाँ वेदना खूब सशक्त संवेदन की छटा लेकर आती है—

देव, अब वरदान कैसा ?
वेध दो मेरा हृदय, माला बनूँ, प्रतिकूल क्या है।
मैं तुम्हें पहचान लूँ इस कूल तो उस कूल क्या है !
छीन सब मीठे क्षणों को, इन अथक अन्वेषणों को।
आज लघुता ले मुझे दोगे निठुर प्रतिदान कैसा ?
जन्म से यह साथ है मैंने इन्हीं का प्यार जाना।
स्वजन ही समझा दृगों के अश्रु को पानी न माना !

वेदना का विन्यास उसकी वस्तुमत्ता ('आब्जेक्टिविटी') का वहुरूप और विवरणपूर्ण चित्रण, जितना महादेवीजी ने दिया है, उतना वे तीनो कवि नही दे सके है।

'साध्यगीत' की पहली ही कविता मे साध्य-गगन और जीवन का विंब-प्रतिविंब स्वरूप महादेवीजी के काव्य में चित्राकण-कला का एक सफल उदाहरण है, भले ही प्रकृत भावोच्छ्वास का प्रवेश उसमे न हो।

मैंने ऊपर कहा है कि छायावाद काव्य के व्यक्त प्रकृति के सौन्दर्य-प्रतीको को न लेकर महादेवीजी ने उन प्रतीको की अव्यक्त गतियो और छायाओ का संग्रह किया है। इससे उनकी रचनाओ मे वेदना की विवृत्ति और रहस्यात्मकता वढ गई है किन्तु वे स्थल कही-कही अधिक दुरूह हो गये हैं। उदाहरण के लिए यह रचना लीजिए—

उच्छ्वासों की छाया में, पीड़ा के आलिंगन में
निश्वासों के रोदन में, इच्छाओं के चुम्बन में,
उन थकी हुई सोती-सी, उजियाली की पलकों में,
विखरी उलझी हिलती-सी मलयानिल की अलकों मे,
सूने मानस-मन्दिर में, सपनों की मुग्ध हँसी में,
आशा के आवाहन में, वीते की चित्रपटी में,
रजनी के अभिसारों में, नक्षत्रों के पहरों में,
ऊषा के उपहासों में, मुस्काती-सी लहरो में,
जो विखर पड़े निर्जन में निर्भर सपनों के मोती,
मैं ढूंढ़ रही थी लेकर धुंधली जीवन की ज्योती।

लाक्षणिकता उसी हद तक काव्य में काम दे सकती है जिस हद तक वह उसके धारावाही सौन्दर्य मे रोड़े न अटकाये। महादेवीजी के काव्य की जो भूमि है उसी भूमि की रचनाएँ कतिपय छायावादी कवियो की भी मिलती हैं, किन्तु उसकी व्यंजना व्यक्त सौंदर्य-प्रतीको के और सीधी लाक्षणिकता के आधार पर होने के कारण स्पष्टतर हुई है।

उदाहरणार्थ हम निरालाजी की ख्यातिप्राप्त रचना 'तुम तुग हिमालय-शृंग और मैं चंचल गति सुरसरिता' को लें तो दोनों का अन्तर साफ दिखाई देगा। हमारे कहने का मतलब यह नही कि महादेवीजी के ऐसे प्रयोग सर्वत्र दुरूह हो गये हैं, कही-कही वे अतिशय मार्मिक हैं। जैसे—

उन हीरक के तारों को कर चूर बनाया प्याला।
पीड़ा का सार मिलाकर प्राणों का आसव ढाला।
मलयानिल से झोकों में अपना उपहार लपेटे।
मैं सूने तट पर आई बिखरे उद्गार समेटे।
काले रजनी अंचल में लिपटी लहरें सोती थीं।
मधुमानस की बरसाती वारिदमाला रोती थी।

ये पक्तियाँ हमे प्रसादजी के 'आँसू' की सुन्दर कडियो की याद दिलाती हैं। अवश्य प्रसादजी मे सौंदर्य-सवेदन के दोनो स्वरूप 'आनन्द' और 'वेदना' का एक-सा प्रसाद मिलता है किन्तु महादेवीजी मे उसके पिछले अश की ही प्रधानता है।

अपनी इस एकपक्षिता के दो कारण महादेवीजी ने बताये है जो इस प्रकार है—'जीवन मे मुझे वहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा मे सब कुछ मिला है, उस पर पार्थिव दुःख की छाया नही पड़ी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।' इसके अतिरिक्त 'बचपन से ही भगवान् बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनकी संसार को दु:खात्मक समझने वाली फिलासफी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।' इस दुःख के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करती हुई वे लिखती है—'दु.ख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र मे वाँधे रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक वूद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर वनाये विना नहीं गिर सकता।'

इस स्पष्टीकरण में महादेवीजी ने सुख और दुःख के स्वरूप को अस्पष्ट ही रख छोडा है। उन्होंने दुःख के आध्यात्मिक स्वरूप और सुख के भौतिक स्वरूप को सामने रखकर विचार किया है। किन्तु इसके विपरीत सुख एक आध्यात्मिक और दुःख का भौतिक स्वरूप भी है जिसकी ओर उनकी दृष्टि नही गई। दुःख की तामसिक, राजसिक और सात्त्विक तीनो अभिव्यक्तियाँ हो सकती है, उसी प्रकार सुख की भी। यह सब कुछ उस संवेदन पर अवलम्बित है जिससे सुख और दुःख का निःसरण होता है। महात्मा बुद्ध ने दुःखवाद को आध्यात्मिक अर्थ मे लिया है, उसी प्रकार भारतीय दर्शनो ने 'आनन्द' का आध्यात्मीकरण कर लिया है। इसलिए भौतिक आधार पर सुख और दुःख का जो व्यतिरेक (या 'कंट्रास्ट') महादेवीजी ने ऊपर दिखाया है, उसे मैं उनकी व्यक्तिगत सात्त्विकता का परिणाम मान सकता हूँ। उसे दार्शनिक सत्य या काव्य-कसौटी मानने के लिए मै तैयार नही हूँ।

यह स्त्रियोचित सात्त्विकता भी महादेवीजी के काव्य की सार्वत्रिक विशेषता है। इससे उनके काव्य को एक सुन्दर कान्ति मिली है; यद्यपि कही-कही अति सरलता, सौन्दर्य स्पर्श से वचित भी रह गई है। जैसा कि मै ऊपर कह चुका हूँ, महादेवीजी की वेदना पहले व्यक्तिगत भावुकता अथवा रूढि भक्तिभावना के रूप मे रही है जो क्रमशः निखरती गई है। अब मै इनके एक-एक उदाहरण दूँगा—

भावुकता का स्वरूप निम्नाकित 'फैसी' मे प्रकट हुआ है—

> चाहता है यह पागल प्यार, अनोखा एक नया संसार।
> कलियों के उच्छ्वास शून्य में ताने एक वितान,
> तुहिन-कणों पर मृदु कंपन से सेज बिछा दें गान—
> जहाँ सपने हों पहरेदार, अनोखा एक नया संसार।

रूढ़िगत भक्ति भावना मुझे वहाँ दीखती है जहाँ महादेवीजी ने रहस्यमय आध्यात्मिक सत्ता को स्थूल उपास्य का रूप दे दिया है अथवा जहाँ

प्राकृतिक सौदर्य का, जिसमे कवि-हृदय विना मुग्ध हुए नही रहता, स्थान-स्थान पर प्रतिषेध किया है।

निराली कलकल में अभिराम, मिलाकर मोहक मादक गान।
छलकती लहरों में उद्दाम, छिपा अपना अस्फुट आह्वान।
न कर हे निर्झर भंग समाधि, साधना है मेरा एकान्त।

किन्तु नीचे के पद्य मे रूढिरहित आध्यात्मिक निरूपण हैं :—

छाया की आँख-मिचौनी, मेघों का मतवालापन,
रजनी के श्याम कपोलों पर ढरकीले श्रम के कन।
फूलों की मीठी चितवन, नभ की ये दीपावलियाँ,
पीले मुख पर संध्या के वे किरणों की फुलझड़ियाँ।
विधु की चाँदी की थाली मादक मकरंद भरी-सी,
जिसमें उजियारी रातें लुटतीं घुलती मिसरी-सी।
भिक्षुक से फिर जाओगे जब लेकर यह अपना धन,
करुणामय तब समझोगे, इन प्राणो का महँगापन।

'न थे जब परिवर्तन दिन-रात, नही आलोक तिमिर थे ज्ञात' से आरम्भ होनेवाला पूरा गीत भी रूढ पद्धति पर बना है किन्तु आगे चल कर जहाँ वेदना तपकर निखर उठी है, वहाँ रूढि का लेश भी नहीं दीखता और काव्य ऊँचे धरातल पर आ पहुँचा है। यहाँ वेदना खूब सशक्त सवेदन की छटा लेकर आती है—

देव, अब वरदान कैसा ?
वेध दो मेरा हृदय, माला बनूँ, प्रतिकूल क्या है।
मै तुम्हें पहचान लूँ इस कूल तो उस कूल क्या है !
छीन सब मीठे क्षणों को, इन अथक अन्वेषणों को।
आज लघुता ले मुझे दोगे निठुर प्रतिदान कैसा ?
जन्म से यह साथ है मैंने इन्हीं का प्यार जाना।
स्वजन ही समझा दृगों के अश्रु को पानी न माना !

इन्द्र-धनु से नित सजी-सी, विद्यु हीरक से जड़ी-सी।
मै भरी बदली रहूँ चिर मुक्ति का सम्मान कैसा ?

इस अवस्था की अनुभूतियों का वैविध्य और काव्य की मनोहारिता महादेवीजी मे ऊँची श्रेणी की है। कोई भी छायावादी इतने अटल भाव से इस भूमि मे स्थिर नही रह सका। इस भूमि की प्रदीप्त अनुभूतियो का ऐसा संकलन नवीन युग का कोई हिन्दी कवि नही कर सका है। तो भी, हम कहेगे कि महादेवीजी का काव्य व्यक्तिगत दुःख को सब जगह आध्यात्मिक ऊँचाई तक नही ले जा सका है।

महादेवीजी जिस नये क्षेत्र में जिस नवीन ढंग से काम कर रही है, इससे उनकी कठिनाइयो का अनुमान हम कर सकते हैं। एक तो परोक्ष स्तर की निगूढ अनुभूतियो का संग्रह फिर उनका परिष्करण और उन्हें उपयुक्त व्यंजना देना, तीनो ही आयास-साध्य है। फिर महादेवीजी अपनी व्यंजना-शैली में भी एक नवीनता रखती है। ऐसी अवस्था में हमे आश्चर्य नही होता कि भाषा, तुको और छन्दो के विन्यास की ओर वे पर्याप्त सतर्क हो सकी। महादेवीजी की भाषा मे हमे समृद्ध छाया-वादी चमत्कृति नही मिलती। तुकों के सम्बन्ध मे भी काफी शिथिलता दीखती है। छन्दो और गीतो मे भी एकरूपता अधिक है। भावो को काव्याभिव्यजना देने के सिलसिले मे कही-कही सुन्दर कल्पनाओ के साथ ढीले प्रयोग एक पक्ति के बाद दूसरी ही पंक्ति मे मिल जाते है—

जिन नयनों की विपुल नीलिमा में मिलता नभ का आभास।
जिस मानस में डूब गये कितनी करुणा कितने तूफान।
जिन अधरो की मन्द हँसी थी नव अरुणोदय का उपमान।
किया दैव ने जिन प्राणों का केवल सुषमा से निर्माण।
ओठों की हँसती पीड़ा में आहों के बिखरे त्यागों में।
जो तुम आ जाते एक बार
कितनी करुणा कितने सँदेस पथ में बिछ जाते बन पराग।

इन उद्धरणों की पहली पंक्तियाँ जितनी सुन्दर और काव्योपयुक्त हुई है, उतने ही प्रत्येक दूसरी पंक्ति के चिह्नित प्रयोग चिंत्य हो गये है। कई पंक्तियाँ शुष्क गद्य-सी प्रतीत होती हैं—

मै मदिरा तू उसका खुमार।
मै छाया तू उसका अधार।

चल चितवन के दूत सुना उनके पल में रहस्य की बात।
मेरे निर्निमेष पलकों में मचा गये क्या क्या उत्पात।
गये तब से कितने युग बीत; हुए कितने दीपक निर्वाण।
नहीं पर मैंने पाया सीख, तुम्हारा-सा मनमोहन गान॥

नीचे लिखी पंक्ति ध्वनि-शैथिल्य का एक उदाहरण है—

शिथिल मधु-पवन गिन-गिन मधुकण,
हरसिंगार झरते हैं झर झर।

'तुम विन,' उन विन,' जैसे प्रयोग अधिक नही अखरते और 'पथ बिन अन्त' भी चल जाता है। 'मै न जानी,' 'मैं प्रिय पहचानी नही' जैसे व्याकरण असम्मत प्रयोग भी अप्रिय नही लगते। तो भी कहना पड़ता है कि महादेवीजी की रहस्यानुभूति जितनी समृद्ध है, उनकी काव्य-प्रतिभा उतनी ही उत्कृष्ट नही और भाषा-शक्ति भी सीमित है। किन्तु अभी महादेवीजी निरन्तर विकास के मार्ग पर वढ रही हैं, वे किस दिशा में कितना वढ़ेगी यह अब तक अज्ञात है। इसलिए उनकी किसी भी विशेषता पर अन्तिम मुहर अभी नही लगाई जा सकती।

अव यहा मुझे उन मतदाताओ के समाधान मे कुछ शब्द कहने होंगे जो महादेवीजी की अनुभूतियो पर काल्पनिकता का आरोप करते हैं। उनकी समझ में नही आता कि किस जगत् की वातें वे कर रही हैं और उनसे हमारा क्या सम्वन्ध हो सकता है। इन्हां में से वे कुछ लोग भी हैं जो आधुनिक कोलाहल मे व्यस्त होने के कारण तो महादेवीजी के काव्यजगत् मे पहुँच ही नही पाते, अथवा दो-चार चाजों की बानगी

लेकर, शेष सब एकरूप ही हैं, कहने की जल्दबाजी करते हैं। इन सब को मेरा उत्तर यह है कि महादेवीजी के काव्य का आधार उसी अर्थ में काल्पनिक कहा जा सकता है जिस अर्थ मे कबीर और मीरा का काव्याधार काल्पनिक है, जिस अर्थ मे 'गीतांजली' और 'आँसू' काल्पनिक है। जो महादेवी का अध्ययन नही कर सकते वे इन कवियो का भी अध्ययन कैसे कर सकते है, अथवा इनको भी एकरूप क्यो नही ठहरा सकते ! यहाँ मै उन महानुभावो का शुमार नही कर रहा जिनकी राय मे रहस्यवाद किसी प्राचीन बर्बर युग की स्मृति है, मनुष्य की अविकसित बाल्यभावना की सृष्टि है और जो वैज्ञानिक विकास-सिद्धान्त से बहुत दूर की चीज़ हो गई है।

अक्सर लोगो का आग्रह रहा है कि मीरा और महादेवी के काव्य की तुलना के सम्बन्ध मे मैं कुछ कहूँ। मेरा कहना यह है कि मीरा और महादेवी के काव्य का आधार बहुत अंशो मे एक-सा है किन्तु ये दोनो दो युगो की सृष्टियाँ है। अपने-अपने युगो के अनुरूप ही इन दोनो का काव्य-व्यक्तित्व है। मीरा का काव्य नैसर्गिक भावोद्रेक का नमूना है। वह अलौकिक प्रेम और विरह से भीगे हुए हृदय का उद्गार है। इसमे काव्यकला की बारीकियाँ हमे नही मिलती, मूर्तिमान विरह की तड़प और मिलन के स्पदन सुन पड़ते हैं। प्रकृति और कल्पना की सहायता से भावो का चित्रण वे नही करने बैठी। मध्ययुग के सभी समुन्नत कवियो की यह अप्रतिम नैसर्गिकता उनकी अपनी चीज़ है। उस तरह की चीज आज इस बौद्धिक विकास के युग में ढूँढ़ना दोनो युगो का अपमान करना है। महादेवीजी मे भी अनुभूति की सच्चाई है और गहराई है किन्तु वे काव्यकला मे सजकर आई हैं। मीरा अपने प्रियतम की खोज मे राजमहल छोड़कर निकल आई थी और उन्हे गृह-वन पुकारती फिरती थीं। उनका काव्य पुकार-साकार है। महादेवीजी की ध्वनि अधिक धीमी और अधिक सभ्य होनी समुचित ही है।

विशुद्ध काव्यदृष्टि से महादेवी मीरा की ऊँचाई पर कम ही पहुँ-चती है। काव्यकला से सज्जित होने पर भी उनकी कविता मे तीव्र नैसर्गिक उन्मेष नहीं, साथ ही उनमे एकागिता भी है। उक्त भावना-शिशु के लिए मुक्त आकाश मे पक्षी की भाँति उड़कर चराचर जगत् की जो सौंदर्य-सामग्री, जो सहज आस्वाद्य फल, कविगण प्रस्तुत किया करते हैं, महादेवीजी मे उसकी कमी है। भावना-शिशु का प्यार उन्हे अपना नीड़ छोड़ने नही देता। फलत. उनके काव्य मे प्राकृतिक उप-मानो का वैविध्य नहीं है। उनकी कविता कुछ अंशों मे कोरी भावना-निष्ठा से, जो व्यक्तिगत है, विजड़ित है। अपनी बात स्पष्ट करने के लिए मैं 'प्रसादजी' की दो पक्तियां लेता हूँ। ये उनके 'चन्द्रगुप्त' नाटक में आई है, विषय है देश-प्रेम का—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

.. ..

लघु सुरधनु से पङ्ख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुंह किये, समझ नीड़ निज प्यारा।

कवि अपने मूल विषय को लेकर कितनी दूर चला गया है, व्यक्ति-गत भाव के भार से कितना छूटा हुआ! पक्षियों का अनुकूल पवन के सहारे, छोटे-छोटे इंद्र-धनुषों के-से पंख पसारे, अपनी ईप्सित दिशा में नीड़ो की ओर उड़ना, और मेरा देश। (सुख, सौंदर्य और अपनेपन की व्यजना) अनजान क्षितिज को कूल-किनारा मिलना—सहारा मिलना और मेरा देश (आश्रय, दाक्षिण्य और औदार्य का भाव)। और साथ ही क्षितिज को किनारा मिलने और पक्षियो के नीड़ की और उड़ने की मूर्तिमत्ता कितनी सहज, भव्य और हृदयग्राहिणी है। यह भावना तो है ही, किन्तु समुन्नत काव्य के वेष मे। महादेवीजी की शक्ति भावना के विश्लेषण मे है, प्राकृतिक रूपो और उपमानो द्वारा उसे व्यंजित करने मे नही। वाह्य निरपेक्षता और अतरंगता जो महा-

देवीजी मे, एक सीमा तक वढ़ी हुई है, उनकी काव्य-शक्ति को परिपूर्ण विकास नही दे रही है ।

सभी उच्चकोटि के रहस्यवादी कवियों और स्वयं मीरा मे भी भावना का प्राचुर्य उपयुक्त प्राकृतिक उपमाओं और कल्पनाओ के सहारे, काव्यात्मक परिच्छेद मे व्यक्त हुआ है । वल्कि हृदय के सूक्ष्म भावो की व्यंजना के लिए अन्य कवियो की अपेक्षा रहस्यवादी कवि को प्रकृति की—उसकी एक-एक भावभगी, रूप-रंग, गति अनुगति की और भी महीन परख रखनी पड़ती है; अन्यथा उसका काम नही चल सकता ।

मीरा का काव्य दिव्य प्रेम और विरह पर आश्रित है, जो एक ओर उसे सहज हृदयग्राही वनाता है और दूसरी ओर काव्य के विषय को विस्तीर्ण कर देता है । महादेवी के काव्य मे वैराग्यभावना का प्राधान्य है । महात्मा वुद्ध की भाँति नही (वुद्ध की मूर्तियो मे दुःख मुद्रा नही मिलती) किन्तु वौद्ध-संन्यासियो और संन्यासिनियो सरीखी एक चिन्ता मुद्रा, एक विरक्ति, एक तड़प, शाति के प्रति एक अशाति महादेवीजी की कविता में सव जगह देखी जा सकती है । किन्तु इस कारण उनकी कविता मे एकरूपता 'मोनोटनी' नही आई है; जैसा कुछ लोग आरोप करते है । उनमें प्रचुर वैभिन्य है ।

आशा है मैंने दोनो का अन्तर यथासंभव थोड़े मे स्पष्ट कर दिया है ।

अव मैं अन्त में यह कहूँगा कि आधुनिक कवियो मे महादेवीजी का क्या स्थान है, इसका निर्णय करना अभी हमारे लिए असामयिक होगा । इस युग के अग्रगण्य कवियों मे संभवतः उनका स्थान सुरक्षित रहेगा (केवल इसलिए नही कि भारत अध्यात्म-प्रधान देश है, वल्कि उनके काव्यगुणों के कारण) किन्तु उनमे उन्हे कौन-सा विशेष पद प्राप्त होगा यह तो समय ही वता सकता है । मैं कह चुका हूँ कि उनका विकास अभी वन्द नही हुआ है ।